Fortnightly per copy Rs. 4/-

ओ३म्

3rd September 2022

आर्य जीवन

ఆర్య జీవన్

संस्कृति संरक्षण व सामाजिक परिवर्तन का संकल्प

హిందీ-తెలుగు ద్విభాషా పక్ష పత్రిక

Website : http://www.aryasabhaapts.org

Narendra Bhavan Telephone : 040 24760030

Date of Publication 2nd and 17th of every Month, Date of Posting 3rd and 18th of every Month

देश की आज़ादी के लिए मर मिटने वाले दिवाने जिन्होंने अपना सब कुछ देश के लिए अर्पित किया

आज़ादी के ७५ वर्ष जिन्हें देश भुला रहा है

प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने स्वतंत्राता दिवस पर लाल किले से दिये अपने भाषण में महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं आर्य समाज तथा आर्य बलिदानियों का नाम न लेकर सभी आर्यजनों के हृदय को पहुँचाई ठेस

आजादी के अमृत महोत्सव में महर्षि दयानन्द व आर्य समाज के योगदान की उपेक्षा आर्यों की भावनाओं के साथ खिलवाड़ है

आर्य समाज के पदाध्किारियों एवं कार्यकर्ताओं से विनम्र अपील

आजादी के आन्दोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्य समाज एवं आर्य वीरों के योगदान को जन-जन तक पहुँचाने के लिए स्वयं कमर कसें

- स्वामी आर्यवेश

आजादी के ७५ वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में पूरे देश में आजादी का अमृत महोत्सव बड़े ही धूमधाम एवं उत्साहपूर्ण वातावरण में मनाया गया है। आजादी के इस अमृत महोत्सव को केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारें अपने-अपने तरीके से मनाकर औपचारिकताएँ पूरी कर चुकी हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि स्वतंत्रता आन्दोलन के पुरोधा, अनेक क्रांतिकारियों के प्रेरणा स्रोत महर्षि दयानन्द सरस्वती, उनके गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द जी व अनेकों आर्य बलिदानियों जिन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर करके स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया उनकी उपेक्षा की जा रही है और हम सब इस प्रकार की उपेक्षा को सहन कर रहे हैं।

१८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के विफल हो जाने के बाद पूरे देश में आजादी की चिन्गारी को पुनः प्रज्ज्वलित करने का कार्य स्वयं स्वामी विरजानन्द दण्डी ने अपने हाथ में लिया और युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी अज्ञात रहकर क्रांति की ज्वाला को जन-जन में फैलाया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सन् १८७५ में आर्य समाज की स्थापना करके जहाँ समाज में फैली हुई तमाम कुरीतियों को दूर करने का अभियान चलाया वहीं वे देश को जोड़ने का अथक प्रयास भी करते रहे। उन्होंने विभिन्न जाति, भाषा व मजहब में बंटे हुए देश को एकजुट करके देश की आजादी के लिए तैयार किया और स्वराज्य का मूल मंत्र पूरे राष्ट्र को दिया। सन् १८७७ में इसी उद्देश्य से महर्षि दयानन्द ने दिल्ली दरबार के नाम से विभिन्न मत-सम्प्रदायों एवं संगठनों के नेताओं को आमंत्रित करके स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए एकजुट होकर कार्य करने की पहल की।

महर्षि दयानन्द जी की प्रेरणा से ही आर्य समाज के अनेक कार्यकर्ता, संन्यासी एवं क्रांतिकारी देश की स्वतंत्रता के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान मरते दम तक देते रहे। स्वतंत्रता आन्दोलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वालों में अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द, लौह पुरुष स्वामी स्वतंत्रानन्द, शेरे पंजाब

चित्तवृत्ति का निरोध और योग के साधन

-श्री ओ.के. भटनागर

योग शब्द 'युज्' धातु से वना है, जिसका अर्थ-मिलना-जुलना, युक्त करना, जोड़ना आदि है । अर्थात् जो युक्त करे या मिलाए उसी योग कहते है- **'योगस्समाधिः'** । योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने योग को समाधि वतलाया है, जिसका भाव यह है कि जीवात्मा इस समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार/अनुभूति कर सकता है । भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने **'योगः कर्मसु कौशलम्''** कह कर कर्म में कुशलता और दक्षता का नाम योग बतलाया है ।

१) **योग की परिभाषा**-पाश्चात्य विद्वानों ने योग को चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक् हुए जीवात्मा का साक्षात्कार करना बताया है । डॉ. रेले ने योग के लक्षण को इस प्रकार वर्णित किया है- ''जो मनुष्य के अन्तःकरण को इस योग्य वना देवे कि वह उच्च स्फुरणों से अनुकूल होता हुआ इस संसार में हमारे चारों ओर जो असीम संज्ञान व्यवहार हो रहे हैं उनको विना किसी की मदद के जाना, ग्रहम करे और पचावे ।'' डॉ. रेले के शब्दोमें में- "Yoga is the science which raises the capacity of the human mind to respond to higher vibrations, and to perceive, catch and assimilate the infinite conscious movements going on around us in the Universe. (The mysterious Kundalini by Dr. Vasant G. Rele P. 10 to 11)" किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है- **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'** (योग. १.२) अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों को रोक देने का नाम है । चित्त की वृत्तियाँ क्या हैं ? इन्हें रोकने से क्या लाभ हैं ? इसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है किन्तु पहले जीवात्मा और उसके कर्त्तृत्व का वोध जरूरी है ।

२) **जीवात्मा और उसका कर्त्तृत्व**-योग दर्शन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की सत्ता को स्वीकार करता है । इनमें से जीव वह है जिसके कर्त्तृत्व में सहायता देने के लिए इस दर्शन की रचना हुई है । जीव के अपने कर्त्तृत्व का उद्देश्य सच्चिदानन्द की प्राप्ति है । सत् जो प्रकृति का गुण है वह जीव को पहले से ही प्राप्त है । परन्तु ब्रह्म का स्वरूप 'आनन्द' जीव को अप्राप्त है जिसे उसे प्राप्त करना है । यही उसका उद्देश्य है । जीव के इस उद्देश्य को इस प्रकार कह सकते हैं कि ''प्राप्त संसार (प्रकृति रूप जगत्) को इस प्रकार काम में लाना चाहिए कि जिससे वह अन्त में आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का साधन वन जावे ।''

३) **चित्तवृत्तियों का निरोध क्यों और कैसे ?** हमारी आत्मा में दो प्रकार की वृत्तियाँ काम करती हैं-एक वहिर्मुखी दूसरी अन्तर्मुखी । एक समय में एक ही वृत्ति काम करती है । जब हम विद्याध्ययन करते या अपने सेवाकाल में विभिन्न प्रकार के कार्य एवं व्यवहार करते रहते हैं या गृहस्थ जीवन में विभिन्न कार्यों में लगे रहते हैं तो हमारी बहिर्मुखी वृत्तियाँ तत्परता से अपना काम करती हैं । परन्तु जब हम ईश्वर की उपासना, सन्ध्या, यज्ञ, जप आदि या प्रकृति के विभिन्न रूपों और दृश्यों में ईश्वर की महिमा की अनुभूति करने लग जाते हैं तब ये वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर आत्मा रूपी गंगा में मिल जाती हैं जिससे हम निरन्तर कुछ समय तक ईश्वर के वारे में सोचने लग जाते हैं और उसके विभिन्न गुणों पर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है । जैसे-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-मस्नाविरं शुद्धम पापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्या यातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
-यजुर्वेद ४०.८

के मन्त्र से विदित होता है । इसके अतिरिक्त वेदों के अन्य मन्त्र और आर्य समाज का दूसरा नियम भी ईश्वर की महानता और गुणवत्ता का आख्यान करता है जिसकी याद आने लगती है ।

चितवृत्तियों के निरोध के सम्बन्ध में महात्मा नारायण स्वामी जी ने अपनी 'योग-रहस्य' पुस्तक में बताया है कि आत्मा रूपी गंगा के समानान्तर सटी हुई दो नहरें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी बह रही हैं । यदि बहिर्मुखी नहर पर एक बांध बनाकर उसे रोक दिया जाए तो अन्तर्मुखी वृत्तियाँ स्वयमेव जागृत होकर आत्मा रूपी गंगा में मिलकर वहने लगती हैं और उस समय केवल ईश्वर के बारे में और उसकी महानता तथा गुणवत्ता आदि के वारे में सोचने लग जाते हैं । उस समय केवल ईश्वर का ही ध्यान रहता है अन्य सांसारिक बहिर्मुखी वृत्तियाँ उससे दूर रहती हैं । यद्यपि वह अवधि थोड़ी होती है जिसे अभ्यास के द्वारा एक या दो घण्टे एवं समाधि की अवस्था में इसकी अवधि और भी अधिक बढ़ जाती है । वहिर्मुकी चित्तवृत्तियों का निरोध इसलिए आवश्यक है कि हम अपना ध्यान ईश्वर की उपासना आदि में विना किसी वाधा के एकाग्रचित्त होकर अधिक समय तक लगा सकें ।

४) **चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है**-तत्त्वज्ञान से तात्पर्य आत्मज्ञान से है जिसके ज्ञान से मिथ्याज्ञान का विनाश होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है । तत्त्वज्ञान होने पर साधक आत्मज्ञानी हो जाता है और उसकी प्रवृत्ति अविद्यादि क्लेशों से रहित होती है । अतः शरीर, वाणी और मन के द्वारा किए जाने वाले कर्म बन्धन के कारण नहीं वनते हैं, क्योंकि वे निष्काम भाव से किए जाते हैं ।

प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने आर्यजनों के हृदय को पहुँचाई ठेस

लाला लाजपत राय, श्यामजी कृष्ण वर्मा, भाई परमानन्द, शहीदे आजम भगत सिंह व उनके दादा सरदार अर्जुन सिंह, अमर शहीद राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला खाँ, राजगुरु, सुखदेव व चन्द्रशेखर आजाद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी स्वामी दयानन्द जी के अनुयायी थे। इन्होंने देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं की थी और अपना सर्वोच्च बलिदान दिया था। इतिहास साक्षी है कि निजाम हैदराबाद के अत्याचारों एवं उसके राष्ट्र विरोधी अहंकार को सर्वप्रथम आर्य समाज ने ही चुनौती दी थी, जिसके परिणामस्वरूप निजाम को बाध्य होकर अपनी रियासत को भारत में विलय करना पड़ा था। उक्त आन्दोलन में आर्य समाज के सैकड़ों वीरों का बलिदान हुआ था और तत्कालीन केन्द्र सरकार ने चार हजार आर्य सत्याग्रहियों को स्वतंत्रता सेनानी का ताम्र पत्र देकर सम्मानित किया था। किन्तु आज विडम्बना की बात यह है कि केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा देश के विभिन्न भागों में मनाये जाने वाले अमृत महोत्सव कार्यक्रमों में महर्षि दयानन्द सरस्वती, उनके अनुयायियों तथा आर्य समाज के योगदान की भूमिका की चर्चा न करके उनकी उपेक्षा की जा रही है। स्वतंत्रता आन्दोलन में आर्य समाज एवं महर्षि दयानन्द जी के योगदान की उपेक्षा को गम्भीरता से लेते हुए आर्य समाज की संस्थाओं ने देश के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, प्रान्तों के राज्यपाल एवं मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखकर महर्षि दयानन्द, आर्य समाज, एवं आर्य बलिदानियों की इस उपेक्षा के प्रति अपना रोष व्यक्त किया था। किन्तु १५ अगस्त को लाल किले से अपने भाषण के दौरान माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी द्वारा आजादी के आन्दोलन में योगदान देने वाले महान व्यक्तियों के नाम लेते समय आर्य समाज एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के योगदान की उपेक्षा करना सब आर्यों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाला कार्य है। इसलिए यह आवश्यक है कि आर्य समाज के तत्वावधान में आजादी के अमृत महोत्सव के सम्मेलन, विचार गोष्ठियाँ, जलसे व जुलूस जगह-जगह पर आयोजित करके आम जनता को आजादी के आन्दोलन में आर्य समाज तथा स्वामी दयानन्द जी के योगदान की पूर्ण जानकारी से अवगत कराया जाये। हम सबको भली-भांति समझ लेना चाहिए कि किसी दूसरे के सहारे कोई भी संगठन लम्बे समय तक जीवित नहीं रह सकता। अतः हमें स्वयं देश के स्वतंत्रता आन्दोलन एवं समाज सुधार के कार्यक्रमों में आर्य समाज की भूमिका को आम जनता के समक्ष प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करना होगा। इसके लिए सभी आर्य संस्थाओं के प्रमुख पदाधिकारी एवं कार्यकर्ता स्थानीय स्तर पर आजादी में आर्य समाज की भूमिका को समाचार पत्रों, सोशल मीडिया एवं यू-ट्यूब चौनलों के माध्यम से आम जनता तक पहुँचाने के लिए संकल्पबद्ध होकर कार्य करें। अब वह समय आ गया है जब आर्य समाज को संगठित होकर कार्य करना पड़ेगा और अपनी गौरवपूर्ण उपलब्धियों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर प्रचण्ड अभियान छेड़ना होगा। आर्य समाज प्रारम्भकाल से ही समाज व राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करता आया है। इसलिए अब हम सबकी और अधिक जिम्मेदारी बढ़ गई है कि अपने पूर्वजों की विरासत को सुरक्षित व प्रचारित-प्रसारित करने के लिए युद्ध स्तर पर कार्य करें। इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों की उपेक्षा केवल भाषणों से ही नहीं हो रही है बल्कि हमें पूरा संदेह है कि इतिहास के पृष्ठों से भी आर्यों के बलिदान व संघर्ष की गाथाओं को गायब किया जा सकता है। अतः आर्यों! महर्षि दयानन्द जी के अप्रतिम बलिदान एवं उनके हजारों अनुयायियों तथा आर्य समाज के स्वर्णिम इतिहास की सुरक्षा के लिए जागरूक होकर कार्य करना शुरू करें। शीघ्र ही देश के प्रधानमंत्री एवं राष्ट्रपति के नाम देश-विदेश के आर्यों के द्वारा लाखों पत्र एवं प्रस्ताव भेजने की आवश्यकता है, ताकि वे आर्यजनों की आहत हुई भावनाओं से अवगत हो सकें। आप सभी का इसमें सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। इन पत्रों के द्वारा हम पूरे राष्ट्र को यह अनुभव कराने की कोशिश करेंगे कि इतिहास के तथ्यों की उपेक्षा और सच्चे राष्ट्र भक्तों एवं अपने प्राणों की बाजी लगाने वाले बलिदानियों की उपेक्षा घोर निन्दनीय है और ऐसा किसी भी कीमत पर हम सहन नहीं कर सकते। आशा है प्रत्येक आर्य महर्षि दयानन्द, आर्य समाज एवं आर्य महापुरुषों के प्रति अपनी सच्ची निष्ठा का परिचय देते हुए इस कार्य में एकजुट होकर अपनी आवाज उठायेंगे और अपनी शक्ति का परिचय देंगे।

आर्य समाज की रक्षा - एक यक्ष प्रश्न

- डा सोमदेव शास्त्री

आर्य समाज सन २०२४ और २०२५ में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का २००वां जन्मदिवस तथा आर्य समाज का १५०वाँ स्थापना दिवस विशाल रूप से मनाया जाए इस विषय में आर्य समाज के पदाधिकारी विचार कर रहे हैं। आर्य समाज स्थापना शताब्दी १९७५ के समय जितने संन्यासी, विद्वान, शास्त्रार्थ महारथी, भजनों के माध्यम से वैदिक सिद्धांतों को जन-जन तक पहुंचाने वाले प्रतिष्ठित आर्य भजनोपदेशक, समर्पित कार्यकर्ता और पदाधिकारी थे। आज वे दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। वैदिक सिद्धांतों के शिक्षण केंद्र, विद्वानों के निर्माण स्थल, वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार के लिए समर्पित जीवन निर्माण के केंद्र गुरुकुल थे, आज उनको समाप्त करने का गहन षडयंत्र तथाकथित साम्प्रदायिक संगठन तथा विविध प्रांतीय शिक्षा बोर्डों के माध्यम से, अदूरदर्शी व्यक्तियों को आर्थिक प्रलोभन (सरकारी सर्विस से प्राप्त अर्थ लाभ) दिखाकर आर्य समाज को कार्यकर्ता विहीन बनाने का प्रयत्न हो रहा है। महर्षि दयानन्द ने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, दर्शनशास्त्र, ब्राह्मण एवं वेदादि शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन (आर्ष पाठ विधि) का उल्लेख किया है। जब तक सरकारी परीक्षा से दूर रहकर इन ग्रंथों का पठन-पाठन होता रहा तब तक ये ग्रंथ सुरक्षित रहे तथा विद्वान भी तैयार होते रहे। गुरुकुलों के तत्कालीन आचार्य आर्थिक प्रलोभन में नहीं आयें तथा अपने लक्ष्य वैदिक धर्म की रक्षा में लगे रहें। सन् १९१७ में चेम्सफोर्ड (अंग्रेज अधिकारी) गुरुकुल कांगड़ी को देखने आया उस समय उसने अंग्रेज सरकार की ओर से एक लाख रुपये गुरुकुल को देने की घोषणा की तब स्वामी श्रद्धानन्द जी ने यह कहकर ठुकरा दिया कि मैं सोने के पिंजरे में बंद होना नहीं चाहता। उन्होंने सरकारी उपाधियांध्डिग्री लेना भी स्वीकार नहीं किया। विद्यालंकार, वेदालंकार, सिद्धांतालंकारादि अपनी उपाधियाँ दी। उस समय गुरुकुल कांगड़ी के जो भी स्नातक निकले उन्होंने अपनी विद्वता से दुनिया के हर क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित किया। गुरुकुल झज्जर (हरियाणा) सन् १९६५ में श्री भक्त दर्शन शिक्षा राज्य मंत्री (भारत सरकार) आए थे। उन्होंने सरकारी अनुदान देने और गुरुकुल में सरकारी परीक्षा होनी चाहिए का सुझाव दिया था। उसका तुरन्त विरोध करते हुए आचार्य भगवान देव (स्वामी ओमानंद जी) ने कहा था कि मैं सरकारी नौकर नहीं, मैं विद्वान तैयार कर रहा हूँ और किसानों से ब्रह्मचारियों के लिए अन्न मांगता हूँ। इसी भावना का परिणाम था कि १९६५ से पहले जितने विद्वान स्नातक गुरुकुल झज्जर से निकले उन्होंने आर्य समाज के हर क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। सरकारी परीक्षाओं के शुरू होने पर वह श्रृंखला बन्द हो गई। चाहे गुरुकुल कांगड़ी हो, गुरुकुल वृंदावन हो या गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर हो सबने अपनी उपाधियाँ, अलंकार, स्नातक भास्कर दी। लेकिन सरकारी सहयोग नहीं लिया। आर्य समाज के लिए एक से एक मूर्धन्य विद्वान तैयार हुए। जिन्होंने लेखन प्रचार शास्त्रार्थ, पत्रकारिता और देश की स्वतंत्रता के लिए महान कार्य किया और आत्म बालिदान दिया। देव दयानंद के अनुयायियों का नैतिक कर्त्तव्य है कि दयानन्द के निर्दिष्ट आर्ष पाठ विधि के पठन-पाठन की प्रक्रिया को सुरक्षित रखें।

सरकारी परीक्षा देने व सरकारी नौकरी करने की कामना वाले व्यक्तियों पर ही ध्यान न देकर जो आर्ष पाठ विधि के पठन-पाठन और उसकी सुरक्षा के लिए अपना जीवन समर्पित करने वाले व्यक्तियों के लिए दानी महानुभाव और पदाधिकारी पूरा ध्यान दें। जिन्होंने अपना लक्ष्य (ब्राह्मणेननिष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति)।

प्रत्येक गुरुकुल में सरकारी परीक्षा देने वालों के अतिरिक्त आर्ष पाठ विधि के पठन-पाठन की एक कक्षा हो, भले ही उसमें दो चार समर्पित बालक बालिकाएं हों। अध्ययन के समय और अध्ययन के बाद निःस्वार्थ भाव से आर्य समाज का कार्य करने वाले समर्पित विद्वानों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उदारमना दानी महानुभाव, वैदिक धर्म की रक्षा का व्रत लेने वाले समर्पित विद्वानों के द्वारा ही वैदिक धर्म सुरक्षित रहेगा। यह बात तथाकथित नेताओं को हृदय

में डाल लेनी चाहिए अन्यथा आर्य समाज की स्थिति प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज की तरह हो जाएगी। सन् १८२९ या उसके आस-पास बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना हो गई थी तथा १८६९ में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हो गई थी। अपने लक्ष्य से भटकने के कारण दोनों संस्थाओं का नाममात्र शेष रह गया है। कहीं यही स्थिति आर्य समाज की न हो जाए। वे लोग मरे हुए हैं जो अपने सामने अपने कुल समाज का विनाश होता देखते हैं। ("मृतास्ते ये तु पश्यंति देशभंगं कुलक्षयम्") परिवार या समाज ईंट पत्थरों से बने हुए भवन से सुरक्षित नहीं रहता। अपितु उन भवनों में रहने वाले व्यक्तियों से समाज या परिवार सुरक्षित रहता है। व्यक्तियों के निर्माण के लिए पंच महायज्ञ, वर्णाश्रम व्यवस्था, षोडश संस्कार विधि को व्यवहार में अपनाना आवश्यक है। जनसंपर्क के लिए जनसेवा जिसे ऋषि ने स्पष्ट किया था कि "संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है" इस ओर ध्यान न देने से भी समाज में शिथिलता आ रही है। आज नेता, पदाधिकारी, विद्वान, संन्यासी अपने उत्तराधिकारियों का निर्माण करने के विषय में गंभीर नहीं हैं। एक दिन उन्हें दुनिया से जाना ही है। इसका कोई विकल्प नहीं है। अतः अपने सामने उत्तराधिकारी तैयार किया जाए। अपने अनुभव से उनका मार्ग प्रशस्त किया जाए और भविष्य में आने वाली समस्याओं से सावधान किया जाए। इस ओर ध्यान न देना यह भी एक सामाजिक अपराध है। अपने उत्तराधिकारी को तैयार करें और ऋषि दयानन्द के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करें। ऋषि दयानन्द ने लगभग ५८-५९ वर्षों की आयु में अपनी उतराधिकारिणी परोपकारिणी सभा बना दी थी। इतना ही नहीं अपनी वसीयत में अपने अंत्येष्टि संस्कार की भी चर्चा कर दी थी जिससे हजारों वर्षों से चली आ रही (संन्यासी को जल समाधि की) मिथ्या परंपरा को दयानन्द ने तोड़ दिया। आर्य समाज से तहरीर और तकरीर लेखनी और वाणी से प्रचार का कार्य चलता रहे यह पंडित लेखराम ने अंतिम समय में कहा था। और यह तभी सम्भव है जब आर्य समाज कार्यकर्ताओं के निर्माण पर केंद्रित होगा। कार्यकर्ताओं का निर्माण आर्य वीर दल व आर्य वीरांगना दल के शिविरों से आर्य समाज की दैनिक शाखाओं से होगा। विद्वानों का निर्माण, जीवनदानी कार्यकर्ताओं का निर्माण गुरुकुलों से होगा। इस लिए आर्य समाज के भविष्य को देखते हुए विद्वान निर्माण व कार्यकर्ता निर्माण का कार्य तेज करना चाहिए।

अध्यक्ष, वैदिक मिशन मुम्बई,
मो.:-९८६६६६८१३०

भिखारिणी का अक्षय भिक्षा पात्र

घोर दुष्काल पड़ा था। लोग दाने-दाने के लिए भटक रहे थे। भगवान बुद्ध से जनता का यह कष्ट सहा नहीं गया। उन्होंने नागरिकों को एकत्र किया। नगर के सभी संपन्न व्यक्ति जब उपस्थित हो गए, तब तथागत ने उनसे प्रजा की पीड़ा दूर करने का कुछ प्रबन्ध करने को कहा।

नगर के सबसे बड़े अन्न के व्यापारी की ओर प्रभु ने देखा। वे उठकर खड़े हो गए और बोले- 'मैं अपना सभी संचित अन्न देने को प्रस्तुत हूं, किन्तु यह इतना भी है कि उससे पूरी प्रजा को एक सप्ताह भी भोजन दिया जा सके।'

नगर सेठ ने निवेदन किया- 'प्रभु आज्ञा दें तो मैं अपना संपूर्ण कोष लुटा सकता हूं, किन्तु प्रजा को दस दिन भी भोजन मिलेगा या नहीं, सन्देह की बात है।'

स्वयं नरेश ने भी अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। सम्पूर्ण सभा मौन हो गई। सबने मस्तक झुका लिए। तथागत के मुख पर चिन्ता की रेखाएं झलकने लगी। इतने में सभा में सबसे पीछे खड़ी फटे मैले वस्त्रों वाली एक भिखारिणी ने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया और बोली- 'प्रभु आज्ञा दें तो मैं दुष्काल पीड़ित जनों को भोजन दूंगी।'

एक ओर से सबकी दृष्टि उस कंगाल नारी की ओर उठ गई। सबने देखा कि वह तो अनाथ पिन्ड की कन्या है। अपना ही पेट भरने के लिए उसे प्रतिदिन द्वार-द्वार भटककर भीख मांगना पड़ता है। तथागत उस भिखारिणी की ओर देखकर प्रसन्न हो गए थे। किसी ने क्रोधपूर्वक पूछा- 'तेरे यहां कहां खजाना गड़ा है कि तू सबको भोजन देगी।'

बिना हिचके, बिना भय के उस नारी ने कहा- 'मैं तो भगवान की कृपा के भरोसे उद्योग करना है। मेरा कोष तो आप सबके घर में है। आपकी उदारता से ही यह मेरा भिक्षा पात्र अक्षय बनेगा।'

सचमुच उस भिकारिणी का भिक्षापात्र अक्षय बन गया। वह जहां भिक्षा लेने गई, लोगों ने उसके लिए अपने भंडार खोल दिए। जब तक वर्षा होकर खेतों में अन्न नहीं हुआ। अनाथपिंड कन्या प्रजा को भोजन देती रही।

राष्ट्र का सांस्कृतिक और जनवादी स्वरूप

-क्षितीश वेदालंकार

भारत के प्राचीन तत्ववेत्ताओं ने मानव जीवन का और सृष्टि का निरीक्षण और परिवीक्षण करने के पश्चात् एक अद्‌भुत सिद्धान्त का आविष्कार किया था वह सिद्धान्त था यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे । अर्थात् जो पिण्ड (माइक्रोकौज्म) में है वही ब्रह्माण्ड (माइक्रोकौज्म) में है जो व्यक्ति में है वही समष्टि में है । इस सिद्धान्त के द्वारा व्यक्तिगत रूप से मानव को और समष्टिगत रूप से जगत को समझने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

मानव जीवन तीन चीजों का समुच्चय है शरीर, मन तथा आत्मा । शरीर के बिना मन और आत्मा के टिकने का कोई आधार नहीं रहता और आत्मा के बिना केवल शरीर निरा शव है । इसलिए जबतक शरीर में जीवात्मा विद्यमान है तब तक मनुष्य जीवित रहता है । जीवन के सारे कार्यकलाप करता है और जिसदिन जीवात्मा निकल जाता है या प्राण पखेरू उड़ जाते हैं । उस दिन आत्मा विहीन और प्राणविहीन शरीर को स्वयं सगे सम्बन्धी ही जो उस व्यक्ति के जीवित रहते उससे इतना अधिक स्नेह रखते थे उसको मिट्‌टी समझ कर श्मशान में ले जाकर अग्नि को समर्पित कर देते हैं । जब तक शरीर और आत्मा का संयोग बना रहता है तब तक सब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी सक्रिय रहती है तभी तक मन का भी ताना बाना रहता है । पर जिस दिन वह संयोग टूट जाता है उस दिन सब कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ और मन सब व्यर्थ हो जाते है ।

मन भी शास्त्रकारों के मतानुसार ग्यारवहाँ इन्द्रिय ही है । उसको पांच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रियों में परिगणित नहीं किया जा सकता इसलिए उसे अलग से ११वाँ इन्द्रिय कहा गया है । उसका कारण यह है कि मन आत्मा और शरीरि के बीच का संदेश वाहक है । मन ही दोनों को जोड़ता है और मन के माध्यम से ही शरीर की आत्मा पर और बीच में यह मन न हो तो केवल ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियाँ जो शरीर का हिस्सा है, संवादहीनता की स्थित में हो जाएंगी ।

राष्ट्र का शरीर

जिस प्रकार मानव जीवन के लिए शरीर, मन और आत्मा इन तीनों का होना आवश्यक है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का भी शरीर मन और आत्मा होना आवश्यक है । तभी वह जीवन राष्ट्र बनता है ।

राष्ट्र का शरीर क्या है ? राष्ट्र का शरीर है वह भूमिखण्ड जो उसे अन्य देशों से अलग करता है । ऐसे भौगोलिक परिवेश का नाम ही देश है । देश शब्द के अर्थ में यह बात छिपी हुई है कि वह किसी प्रदेश विशेष का द्योतक है । चारों दिशाओं में फैला प्रदेश ही देश है । ऐसे भूमिखण्ड का निर्माण बहुत बार राजनीतिक घटना चक्र के कारण मानव निर्मित सीमाओं से घिरा होता है और बहुत बार वह ऐसी प्राकृतिक सीमाओं से घिरा होता है और बहुत बार वह ऐसी प्राकृतिक सीमाओं से घिरा होता है जो उसे स्वयं ही अन्य देशों से बहुत अलग पहचान करती है । हां तक भारत का समबन्ध है । उसकी सीमाएं प्रकृति प्रदान हैं इसलिए उसको देव भूमि कहा गया है । देव भूमि और प्रकृति प्रदत्त भूमि दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है । उत्तर में हिमालय, दक्षिण में हिन्द महासागर, पूर्व में बंग महासागर और पश्चिम में अरब सागर मानव निर्मित नहीं है । ये चारों प्रकृति के ही चमत्कार है । किसी मनुष्य के नहीं । मनुष्य न हिमालय बना सकता है, न हिन्द महासागर और न ही अरब सागर या बंग सागर को । इसलिए वेद में कहा गया है ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु । यस्येमाः प्रदेशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

वर्फ से ढकी हुई चोटियों वाले पर्वत और जगत् में जीवन रस का संचार करने वाली नदियों के साथ समुद्र जिसकी महिमा गाते हैं । और दिशा प्रदिशाएँ जिसकी भुजाओं के समान है वह इन चारों प्रकृति की चमत्कार स्वरूप सीमाओं से घिरा हुआ भूखण्ड ही भारत देश है । यही राष्ट्र का शरीर है ।

राष्ट्र का मन

शरीर में जो स्थान मन का है देश में वही स्थान जन का है । अगर केवल भूमि खण्ड ही विद्यमान हो और उसमें रहने वाले कोई जन न हों तो वह देश राष्ट्र नहीं कहला सकता । उस देश के निवासी उस भूखण्ड को, जो राष्ट्र का शरीर है राष्ट्र की आत्मा के साथ जोड़ते हैं । जिस प्रकार शरीर और आत्मा के बीच संवाद का काम मन करता है उसी प्रकार राष्ट्र के शरीर र आत्मा के बीच का संवाद उस देश के निवासी करते हैं। यह जन ही राष्ट्र का मन है । महर्षि पाणिनि ने सोस्याभिजनः कहकर

किसी भी प्रदेश के निवासी को अभिजन शब्द की संज्ञा दी हैं। उसी को हम यहाँ जन कह रहे हैं। आर्यावर्त के निवासी आर्यजन वही भारत के निवासी आर्य जन।

राष्ट्री की आत्मा

अब राष्ट्री की आत्मा क्या है ? इस पर विचार करें । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय राष्ट्र की आत्मा वैदिक संस्कृति है । उसी को वैदिक धर्म और हिन्दू संस्कृति कहना चाहिए । वैसे हम हिन्दू शब्द को धर्म वाचक होने के बजाए राष्ट्र वाचक ही अधिक मानते हैं। परन्तु भाषा के शिथिल प्रयोग के कारण और कुछ इतिहास की अनिभिज्ञता के कारम तथा कुछ विदेशियों द्वारा वैसा प्रचार किए जाने के कारण आम जनता ने अपने व्यवहार में हिन्दू शब्द को धर्म वाचक मानकर इसका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। हम उसी को वैदिक संस्कृति कह रहे हैं। वह इस भारत राष्ट्र की आत्मा है। वह इसका प्राण है जिस आत्मा के बिना शरीर निष्प्राण हो जाता है। उसी प्रकार इस वैदिक संस्कृति के बिना भारत निष्प्राण है।

ऋषि दयानन्द ने बार बार एक वाक्य खण्ड का प्रयोग किया है । ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त की कालावधि कितनी है। इस पर बहस हो सकती है, परन्तु यह निश्चित है कि वह अवधि हजारों सालों से कम नहीं है । हमारे इतिहासकार चाहे वे भारतीय मूल के हों चाहे विदेशी मूल के प्रायः भारतीय इतिहास का उल्लेख महात्मा बुद्ध से प्रारम्भ करते हैं और उससे पहले के काल को प्रागैतिहासिक काल की कोटि में डाल देते हैं। आश्चर्य है कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् के ढाई हजार वर्षो के इतिहास को इतिहास की कोटि में ही नहीं गिना जाता है । बहुत हुआ तो इतिहास कार महाभारत काल तक पहुँच जाते हैं जो उनके दृष्टिकोण से तीन हजार साल, परन्तु हमारी दृष्टिकोण से ५ हजार साल पहले की घटना है । कहाँ हजारों सालों का इतिहास और कहाँ यह ढाई तीन हज़ार साल का इतिहास प्रश्न यह है कि महात्मा बुद्ध पश्चात् सृष्टि के आदि से हजारों सालों तक जिस विचारधारा और संस्कृति ने इस देश को जीवित रका वह कौन सी विचारधारा है ? यह विचारधारा केवल वैदिक संस्कृति से ही सम्बद्ध रही है। जब अन्य धर्मों या धार्मिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था तब वैदिक धर्म ही सर्वत्र छाया हुआ था।

सच यह है कि वैदिक धर्म से भिन्न किसी अन्य मत को धर्म नाम से संबोधित करना ही बहुत बड़ी भूल है । जितने अन्य मत मतान्तर हैं वे व्यक्ति विशेष पर निर्भर हैं। परन्तु वैदिक धर्म किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं वह तो ऋषियों के द्वारा प्रचारित परमात्मा द्वारा प्रदत्तज्ञान का उन्मेष है। अन्य मत वर्ग विशेष के लिए स्था विशेष के लिए या अपने कर्म काण्ड विशेष के लिए अपनी अलग पहचान स्थापित करते है, परन्तु वैदिक धर्म देश और काल से अनवच्छिन्न रह कर समस्त मानव मात्र के जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए न केवल ज्ञानविज्ञान का प्रत्युत्त सम्पूर्ण नैतिकता का भी आधार प्रदान करता है । इसी लिए हम कहते हैं कि मत मतान्तर या मजहब या रिलीजन अनेक हो सकते हैं परन्तु धर्म मानव मात्र का केवल एक ही हो सकता है। वह धर्म कौन सा हो सकता है । यह भी न केवल इतिहास के द्वारा अपितु तर्क के द्वारा और अब तक प्राप्त की गई समस्त खोजों के द्वारा परिपुष्ट वैदिक धर्म ही अन्य कोई नहीं । यह वैदिक विचारधारा ही इस भारत राष्ट्र की मूल आत्मा है और बाकी अन्य जितने मतमतान्तर हैं वे उसपर पड़ी हुई छाया या गर्दगुबार के समान हैं।

इस प्रकार भारत का भूमि खण्ड, भारत का जन और भारत की आत्मा अर्थात् उसकी संस्कृति, ये तीनों मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते हैं। अगर इनमें से एक भी कड़ी टूट जाएं तो न केवल राष्ट्र की रक्षा संभव नहीं है बल्कि उसका अस्तित्व ही कठिन है । हमारे देश का दुर्भाग्य यह है कि न तो हमने भारत के समस्त भूमि खण्ड की सही रूप से पहचान की है न भारत के जन ने अपने नागरिक कर्त्तव्यों को समझा है और न ही राष्ट्र की प्राणस्वरूप अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृत को हृदयंगम किया है । हमने ऊपर भारत की सीमाओं को देव निर्मित अर्थात् प्रकृति प्रदत्त कहा है । परन्तु व्यवहार में बाघा और अटारी को अपनी देश की सीमा मान रखा है। बाघा और अटारी मनुष्यकृत सीमाएं है। प्रकृति प्रदत्त नहीं। इसलिए भारत राष्ट्रीयता में खंडित भारत का नहीं अखण्ड भारत की ही स्थान है । यही हमारे इतिहास की विरासत है। जहां तक जन का सम्बन्ध है किसी राष्ट्र की रक्षा के लिए जबतक उसके नागरिक दीक्षा और तप नहीं करते तब तक वह राष्ट्री सुरक्षित नहीं रह सकता है। दीक्षा अर्थात् राष्ट्र की रक्षा का संकल्प और तप अर्थात् राष्ट्र के लिए सब तरह के कष्टों को सहने की तत्परता । जबतक हम भारत के इस सही राष्ट्रीय स्वरूप को नहीं समझेंगे तब तक राष्ट्र की रक्षा का प्रश्न हमेशा सन्देहास्पद बना रहेगा। भारत के भूखण्ड के प्रति भारतीय जनता का अनुराग पैदा करो और वह जन अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृति से प्रेरणा लेकर प्राणवान बनें तभी राष्ट्र की रक्षा हो सकती है

स्वाधीनता संग्राम में महर्षि दयानन्द का योगदान

–डा. सुरेन्द्र सिंह कादियाण

सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन की १५०वीं वर्ष गांठ पूरा देश पूरे उत्साह के साथ मना चुका है और अब स्वतंत्राता के ७५ वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर 'अमृत महोत्सव' पूरा देश मना रहा है। अतः यह स्वाभाविक है कि इस अवसर पर उन वीरों का स्मरण किया जाये जिन्होंने इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर किसी न किसी रूप में इसे प्रचण्डता और गौरव प्रदान किया था। आर्य समाज की स्थापना १८५७ की प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन के अठारह वर्ष पश्चात् सन् १८७५ में हुई थी अतः इस आन्दोलन में आर्य समाज के भाग लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द इस आन्दोलन के द्रष्टा अवश्य रहे थे। उन्होंने इस आन्दोलन में कोई भूमिका निभाई थी अथवा नहीं इस पर इतिहास चुप है। स्वयं महर्षि दयानन्द ने अपनी आत्म-कथा में सन् १८५५-६० के साढ़े पाँच वर्षों का स्पष्ट विवरण नहीं दिया है। १८५७ ई० में भड़की जनक्रान्ति से लगभग ढाई वर्ष पूर्व एवं ढाई वर्ष पश्चात तक का उनका यह अज्ञात जीवन-वृत्तांत पाठक के मन में जिज्ञासा व उत्सुकता पैदा करता है कि इस दौरान आखिर वे कहाँ रहे, क्या करते रहे? अतः कुछ लोगों ने उनकी इस अज्ञात-जीवनी को स्वाधीनता संग्राम की उनकी गतिविधियों से जोड़ कर देखा लेकिन इस दृष्टिकोण से विरोध रखने वालों की भी कमी नहीं रही है।

पृथ्वीसिंह महता विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'हमारा राजस्थान' में सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द की इस अज्ञात जीवनी पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। यह पुस्तक सन् १९५० ई० में हिन्दी भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के पृष्ठ २५८ पर अति संक्षेप में उनका निष्कर्ष था कि- ''मार्च १८५७ तक वह प्रायः गंगा के साथ-साथ गंगोत्तरी और बद्रीनाथ से बनारस तक गढ़वाल, रूहेलखण्ड, दोआब और काशी के प्रदेश में घूमता रहा, जहाँ तब क्रान्ति की तैयारियाँ जनता में भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं। .... १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर में गया और आगे पाँच मास तक कानपुर, इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। मार्च १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर, चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिये दक्षिण की ओर निकल पड़ा। अपने प्रारम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहाँ आकर एकाएक अन्त हो जाता है। आगे तीन साल क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहाँ रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगत उसने कभी नहीं दी। ..... यह बात मान लेना आसान नहीं है कि दयानन्द के सदृश भावना प्रवण और चेतनावान् हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा रहा हो और उस युद्ध की सफलता-विफलता की इस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो। अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह चुप्पी भी कम अर्थ भरी प्रतीत नहीं होती।'' जाहिर है कि पृथ्वी सिंह महता की ये टिप्पणियाँ किसी ठोस ऐतिहासिक दस्तावेज़ा पर आधारित न होकर हेत्वाभास पर आधारित हैं अर्थात् १८५७ की हलचल पर ऋषिवर का चुप्पी साधना-इसे आधार बनाकर उन्होंने ऐसी कल्पना कर ली कि उन्होंने क्रान्ति में अवश्य भाग लिया था लेकिन शासक वर्ग से बचने के लिए चुप रहे और उसका उल्लेख करना उचित नहीं समझा। अंग्रेजों द्वारा चलाये जा रहे दमन चक्र को देखते हुए ऐसी कल्पना को निराधार भी नहीं माना जा सकता।

इस विषय पर प्रसिद्ध इतिहासकार पं० जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन' में कुछ अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने का प्रयास किया। यह पुस्तक २०२३ वि० में हिन्दी भवन, जालंधर ने प्रकाशित की थी। पं० जयचन्द्र ने इस प्रश्न को उठाया है

कि हरिद्वार में सन् १८५५ में स्वामी पूर्णानन्द से मिलकर और उनसे परामर्श लेकर वे तुरन्त विरजानन्द जी के पास मथुरा जाने के बजाय कानपुर क्यों चले गये और विरजानन्द जी के पास १८६० में क्यों पहुँचे? यदि उनकी जिज्ञासा शिक्षा ग्रहण की ही होती तो वे तुरन्त हरिद्वार से मथुरा पहुँचते। अतः उनका मानना है कि वे स्वामी पूर्णानन्द जी के पास क्रान्ति सम्बंधी विचार-विमर्श के लिये गये थे न कि विद्याध्ययन के लिए। लगभग तीन वर्ष तक नर्मदा के आरण्यक प्रदेश में परिभ्रमण की जो बात कही जाती है उसका कोई आधार नहीं है। पं० जयचन्द्र जी के ये निष्कर्ष भी कल्पना-प्रसूत हैं, उनका भी कोई ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं है। लेकिन इस कल्पना को भी पहली नज़र में खारिज नहीं किया जा सकता।

उक्त दोनों महानुभावों की इस बात में तो दम अवश्य रहा है कि स्वाधीनता आन्दोलन की इतनी बड़ी घटना पर अपनी आत्मकथा में स्वामी दयानन्द का किंचित भी टिप्पणी न करना किसी विशेष व खतरनाक रहस्य का संकेत देता है। जबकि उनके सभी ग्रन्थों में देशभक्ति का ज्वार दिखाई देता है। निश्चय ही कोई ऐसी बात रही होगी जो विदेशी शासकों के प्रकोप की वजह से उल्लेख योग्य नहीं समझी गई इसलिए उन्होंने जन-क्रान्ति का जिक्र तक करना मुनासिब नहीं समझा। यह ज्ञातव्य है कि स्वाधीनता आन्दोलन में संन्यासियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी विचारों को देखते हुए यह अनुमान लगाना गलत होगा कि उनकी इस आन्दोलन में कोई भूमिका नहीं रही होगी। लेकिन इतिहास कल्पना पर नहीं तथ्यों व प्रमाणों के बल पर आगे बढ़ता है और इनका पं. जयचन्द्र विद्यालंकार के पास भी अभाव था। उन्होंने बनारस के उदासी मठ के सत्यस्वरूप शास्त्री के कथन को उद्धृत अवश्य किया कि ''साधु सम्प्रदाय में तो बराबर यह अनुश्रुति चली आती है कि दयानन्द ने १८५७ के संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया था'' परन्तु इस जनश्रुति का भी कोई पुख्ता आधार नहीं था अपितु अन्य प्रमाण मिल जाने पर सहायक टिप्पणी के रूप में इसका महत्व भी अवश्य बढ़ सकता है।

इस विषय को लेकर भारी बवाल तब मचा जब आर्य समाज कलकत्ता के उपदेशक पं० दीनबंधु वेदशास्त्री की 'महर्षि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' शीर्षक लेखमाला ६६ किस्तों में ५ जनवरी १९६६ से ८ नवम्बर १९७० तब सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि के मुखपत्रा 'सार्वदेशिक में प्रकाशित हुई। कालान्तर में इसे 'योगी का आत्मचरित्रा' शीर्षक देकर स्वामी सच्चिदानन्द योगी ने पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। इसे पातजल योग साधना संघ, रोहतक ने प्रकाशित किया। पं०. दीनबंधु वेदशास्त्री का दावा था कि उन्होंने कलकत्ता के अनेक भद्रपुरुषों के घरों से अज्ञात जीवनी विषयक सामग्री बंगला भाषा में लिखी गई पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त की जिनका अनुवाद व सम्पादन ही उन्होंने किया था। डा. भवानीलाल भारतीय, स्वामी पूर्णानन्द, प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु, युधिष्ठिर मीमांसक, प्रो० श्रीराम शर्मा, डा. स्वामी सत्यप्रकाश तथा डा. जार्डन्स ने इस अज्ञात जीवनी को पूर्णतया भ्रान्त, इतिहास विरुद्ध तथा जाली ठहराया। इसके विपरीत आदित्यपाल सिंह आर्य (अब आदित्यमुनि), क्षितीश वेदालंकार, डह० वेदव्रत, मा० निहालसिंह आर्य, ओंकार मिश्र 'प्रणव', स्वामी सोमानन्द, सोहनलाल शारदा, स्वामी ओमानन्द सरस्वती, ड सत्यकेतु विद्यालंकार, डी०लिट्० आदि इस बात को मानते हैं कि यह ग्रन्थ जाली नहीं है। श्री पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती सरीखे विद्वान् इस विषय को लेकर निरपेक्ष बने रहे और दोनों पक्षों की बात 'आर्य मर्यादा' में रखते रहे। दोनों पक्षों के अपने-अपने तर्क और युक्तियाँ थीं, उस पर गहन चिन्तन तथा अनुसंधान भी साथ-साथ चल रहा था इसलिए अधिकतर लोग तटस्थ भाव से इस सारस्वत युद्ध को देखते रहे।

समर्थकों का मानना था कि इस ग्रन्थ में तिथियों को लेकर जो गलती हुईं हैं उसे पुरानी पाण्डुलिपियों से उद्धृत करने में लेखकों व अनुवादक की भूल या प्रमाद कहा जा सकता

है। दूसरे, उनका कथन है कि आलोचक-गण न तो योग में पारंगत हैं, न उन्होंने पूरा भारत, नेपाल, तिब्बत आदि घूमा है अतः भौगोलिक स्थानों के नाम आदि को लेकर और योग-साधना व सिद्धियों को लेकर जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं वे अधिक महत्व नहीं रखतीं और न ही इस ग्रन्थ को जाली करार देने का ठोस आधार बनती हैं। अज्ञात काल पर उठाए गये डा. भवानीलाल भारतीय के अनेक तर्कों को आदित्यमुनि जी ने बड़े ही सूक्ष्म विश्लेषण व तर्क आदि से काटा भी है। उदाहरणतः प्रसिद्ध क्रान्तिकारी तात्या टोपे को फांसी लगी थी- इस पर भारतीय जी का जोर रहा जबकि 'योगी' का आत्म चरित्रा' में उसे जीवित दिखाया गया था। आधुनिक खोज भी यही मानती है कि तात्या टोपे को अंग्रेज फांसी पर न चढ़ा सके थे बल्कि उसकी जगह उनका डुप्लीकेटर कोई नारायण राव भागवत फांसी पर चढ़ा था जिससे कि तात्या टोपे पर से अंग्रेजों का ध्यान हट सके। लेकिन भागवत को फांसी देने के बाद भी अंग्रेज तात्या टोपे की खोज करते रहे थे। योगी का आत्म चरित्र' में उल्लिखित ऋषिवर की हिमालय-यात्रा को लेकर भी जो आपत्तियाँ उठी थीं उनका निराकरण पं० क्षितीश वेदालंकार ने पद्मश्री स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती से कराया था जो मानसरोवर पर २५ साल रहे थे और जिनकी अंग्रेजी पुस्तक 'कैलास मानसरोवर' कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक की भूमिका पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखी थी। डा. भवानीलाल भारतीय महर्षि दयानन्द रचित आत्मकथा को अक्षरशः सही मानते हैं जबकि आदित्यमुनि उसे अलंकारिक मानते रहे हैं। डा. गंगाराम गर्ग द्वारा सम्पादित पुस्तक World Perspectives on Swami Dayananda Saraswati में प्रो० मैक्समूलर का जो कथन उनके ग्रन्थ प्दकपंद थ्तपमदके (आक्सफोर्ड १८६६, भारतीय संस्करण १६८२ पृ. ६३-६७) में प्रकाशित हुआ है उसमें प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं-

The life of Dayanand published under the authority of the so-called Theosophists, which is accepted formerly as genuine, has been discredited, and we shall probably never have real biography of the man, for biography in India seems to share the fate of history, either it tells us nothing or what it tells us is fact and fiction so mixed together that it is impossible to seperate the one from the other अर्थात् तथाकथित थ्योसोफिस्टों के प्राधिकार से प्रकाशित दयानन्द की जीवनी जिसे मैंने पहले यथार्थ समझ लिया था, अविश्वसनीय है और सम्भवतः हमें उस व्यक्ति की वास्तविक जीवनी कभी प्राप्त नहीं हो सकेगी क्योंकि भारत में उसकी जीवनी इतिहास की नियति की भागीदार प्रतीत होती है। जिससे या तो वह हमें कुछ भी नहीं बताती अथवा जो कुछ वह हमें बताती है, वह वास्तविकता और कल्पना का ऐसा मिश्रण है जिसमें से एक को दूसरे से अलग करना असम्भव है।"

इस 'आत्म-कथा' पर 'थ्योसोफिस्ट' के जिस अंक में यह कह कर विराम लगा दिया गया था कि Here the autobiography ends-Editor, Theosophist उस पर भी आदित्यमुनि जी की टिप्पणी है कि यह घोषणा स्वामी दयानन्द की नहीं थियोसोफिस्ट, पत्रिका के सम्पादक की थी। डा. भारतीय जी का मत है कि थ्योसोफिस्टों से मतभेद न हो गए होते तो आगे यह आत्मकथा और छपती। इस पर आदित्यमुनि जी की टिप्प्णी है कि आत्म-कथा बन्द होने के उपरांत भी २२ मार्च १८८२ तक स्वामी जी का परस्पर पत्रा-व्यवहार कर्नल अल्काट व मैडम ब्लैवस्तिकी के साथ होता रहा था। स्वामी जी का थ्योसोफिस्टों से सम्वंध विच्छेद २८ मार्च १८८२ को अंतिम रूप से हुआ था और यह आत्मकथा अक्तूबर व दिसम्बर १८७६ व नवम्बर १८८० में थ्योसोफिस्ट में छप कर बन्द हो चुकी थी। अतः इस सम्वंधा विच्छेद की पहले ही कल्पना करके थ्योसोफिस्टों ने पहले ही 'आत्मकथा' को समाप्त कैसे घोषित कर दिया? अर्थात् स्वामी दयानन्द 'आत्मकथा' के माध्यम से जो लिखना चाहते थे वह लिख चुके थे इसमें कुछ और लिखना उनको अभीष्ट नहीं था। थ्योसोफिस्टों के आग्रह पर ही स्वामी दयानन्द को आत्म-कथा लिखनी पड़ी थी। सम्भवतः थ्योसोफिस्ट चाहते थे

स्वाधीनता आन्दोलन में उनकी कोई भूमिका रही हो तो वह सामने आ जाये लेकिन स्वामी दयानन्द इतने भोले नहीं थे कि अपने लिये मुसीबत खड़े करते क्योंकि उन्होंने इस क्रान्ति को आगे बढ़ाना था न कि अपने को शहीद बना कर उसे खत्म करना था। ऋषिवर की इस कुशलता के दर्शन 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम व अब बाजार में अनुपलब्ध संस्करण में भी होते हैं जिसमें उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति अपना विरोध जंगली लकड़ी, नमक कर व स्टाम्प पेपर आदि के बारे में बड़े ही संयत व विनम्र भाव से प्रकट किया है। ऐसे ही अन्य प्रसंगों में जो उग्रता बाद के संस्करण में दिखाई देती है वह प्रथम संस्करण में कतई नहीं है। बाद का संस्करण अभी पूरा नहीं छपा था लेकिन इस संस्करण का अधूरा भाग जैसे ही प्रेस में छपा स्वामी दयानन्द की हत्या करा दी गई। जाहिर है कि अंग्रेजों के जासूस पहले ही उनको संदिग्ध मान कर उनके पीछे लगे हुए थे। स्वामी जी के वेद भाष्य में जो राष्ट्रीय भावना उद्वेलित हो रही थी, अपने अंतिम समय में गोरक्षा आन्दोलन उन्होंने चलाया था, अपने प्रवचनों में स्वाधीनता को लेकर जो बातें वे करते थे, रजवाड़ों से उनका जो सम्पर्क बढ़ रहा था उसे लेकर ब्रिटिश शासन पहले से ही आशंकित था। सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संशोधित संस्करण में तो उन्होंने न केवल स्वाधीनता का स्पष्ट सिंहनाद ही किया बल्कि 'जन-क्रान्ति' की कुछ घटनाओं का सजीव चित्राण भी किया। उन दिनों ऐसी किसी बात को सहन करने को ब्रिटिश सत्ता कतई तैयार नहीं थी विशेषकर यदि वह ऋषि दयानन्द जैसे महान् विचारक व सुधारक की कलम से निकले। जन-क्रान्ति के विफल होने पर ब्रिटिश-सत्ता का दमन-चक्र जिस तेजी से भारत भर में घूमा वह सर्वविदित है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से सत्ता ब्रिटिश ताज के आधीन चली गई थी और वे फूक-फूक कर कदम उठा रहे थे। ऐसे में वे महर्षि दयानन्द की योजना को कैसे सहन कर सकते थे? उनके वेदभाष्य को भी यदि सरकार ने मान्यता नहीं दी थी तो इसके पीछे का मुख्य कारण भी यही था कि धर्म की आड़ में स्वाधीनता की बिछाई बिसात को लेकर अंग्रेज पहले ही उन पर सन्देह कर रहा था। अतः स्वामी दयानन्द की हत्या अंग्रेजों का ही रचा एक राजनीतिक हत्याकाण्ड था न कि वेश्या नन्हीं भगतिन, मुसलमानों या पौराणिकों का कोई षडयन्त्रा जैसा कि प्रायः दिखाया जाता रहा है। वस्तुतः यह गहन शोध का विषय है अतः डा. भारतीय जी की पुस्तक 'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' को इस शृंखला में अंतिम मान लेना निश्चय ही एक भूल व भ्रान्ति होगी।

हाँ इतना अवश्य है कि हमें इस विषय में गहन खोज व अध्ययन करना होगा। इस प्रकरण पर डा. भारतीय और आदित्यमुनि के बीच काफी नोक झोंक होती रही है। दोनों ही पक्षों ने एक दूसरे के तर्कों और निष्कर्षों को अपनी-अपनी युक्ति से काटा है। लेकिन इस विवाद या शास्त्रार्थ पर अभी विराम नहीं लगा है और अनेक नयी-नयी प्रस्थापनाओं ने जन्म लिया है। स्वाधीनता आन्दोलन को लेकर भी नई-नई खोज व तथ्य अभी तक सामने आ रहे हैं फिलहाल इसे भी पूरे इतिहास की संज्ञा अभी तक नहीं मिल पाई है। अतः डह भवानीलाल भारतीय के इस निष्कर्ष में कोई दम नहीं है कि ''स्वामी दयानन्द अपने इस अज्ञात काल में विशुद्ध आध्यात्मिक जिज्ञासु बन कर ऐसे योगियों की तलाश में इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे जो उन्हें योग साधना, प्रभुभक्ति तथा मोक्ष मार्ग के बारे में सही जानकारी दे सकें। धर्म और अध्यात्म से भिन्न लौकिक प्रश्नों के समाधान में न तो उनकी कोई अभिरुचि ही जागृत हुई थी और न वे देश में होने वाले राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के आन्दोलनों से ही अपना कोई सम्पर्क रखते थे।'' यदि तथ्य यही होता तो उसका उल्लेख करने में ऋषिवर को क्या आपत्ति थी, क्योंकि ऐसे विवरण तो उन्होंने पहले भी दिये थे?

डा. भारतीय जी ने मा. निहालसिंह द्वारा प्रस्तुत सोरम सामग्री को अप्रामणिक माना है। इस प्रसंग में मेरा यही मानना है कि इस सामग्री के तथ्य भले ही सही हों लेकिन उसमें मालिकता नहीं है। सोरम की सर्वखाप पंचायत के मन्त्री स्व० चौ० कबूल सिंह जी मेरे पास भी आकर ठहरते थे।

इस प्रसंग में मेरे उनसे दो प्रश्न थे। पहला यह कि यह सामग्री तब सामने क्यों नहीं लाई गई जब सिद्धान्ती जी 'सम्राट्' साप्ताहिक निकालते थे और पंचायत रिकार्ड से आपके कई लेख उसमें प्रकाशित हुए थे? सम्राट् लगभग १९४८-१९५७ तक प्रकाशित होता रहा था। 'योगी का आत्मचरित्रा' छपने के उपरांत ही सर्वखाप के रिकार्ड से यह सामग्री जिस प्रकार सामने लाई गई है उस पर मुझे सन्देह रहा है जिसका निराकरण सर्वखाप पंचायत के पुराने कागजात का रासायनिक (कार्बनिक) परीक्षण करा कर ही हो सकता है। यह मेरा दूसरा प्रश्न था। माननीय चौ० कबूल सिंह जी मेरे पहले प्रश्न का उत्तर न दे सके और न परीक्षण कराने को तैयार हुए। यही स्थिति मा० निहाल सिंह जी आर्य की रही जो मेरे भी निकट सम्पर्क में थे। मेरा मानना है कि 'योगी का आत्मचरित्रा' छप जाने के पश्चात् वाहवाही लूटने के लिए श्री कबूल सिंह जी ने ये प्रसंग अपने पंचायती रिकार्ड में दर्ज कर लिये थे जिसकी सही जानकारी वे श्री निहालसिंह आर्य को भी न दे सके। ऐसा वे कर लेते थे, ऐसा मुझे सन्देह रहा है। यही कारण है कि भले ही इस पंचायती रिकार्ड पर कुछ लोगों ने पी.एच-डी. कर ली हो लेकिन जाट इतिहास पर कलम उठाने वाले ऐसे शोधकर्तृता भी रहे हैं जिन्होंने इस रिकार्ड को जाली मानते हुए इसका स्पर्श तक नहीं किया। मा० निहालसिंह आर्य अपनी छुट्टियों का सदुपयोग इस पंचायती रिकार्ड को खंगालने में किया करते थे क्योंकि इस रिकार्ड पर उनका अन्धविश्वास था जबकि इस रिकार्ड को मैं हमेशा सन्देह की दृष्टि से देखता रहा हूँ। इस रिकार्ड में अनेक स्थानीय जातियों का रिकार्ड है। इसी प्रसंग में जब मैंने इस रिकार्ड से कुछ सामग्री संचित की और उसका इतिहास व किवदंतियों से मिलान किया तो इस पंचायती रिकार्ड पर मेरा जो थोड़ा-बहुत विश्वास मां० निहालसिंह आर्य की वजह से बना था वह टूट गया था। अतः यदि हम सर्वखाप पंचायत के रिकार्ड से महर्षि दयानन्द के स्वाधीनता संग्राम में ली गई भागीदारी की पुष्टि करेंगे तो अपना मज़ाक ही उड़वायेंगे। श्री आदित्यमुनि जी ने अपना यह मज़ाक उड़वाया भी है क्योंकि वे भी मा. निहालसिंह आर्य के सम्पर्क में आये थे। लेकिन इससे आदित्यमुनि जी के वे निष्कर्ष गलत नहीं ठहराये जा सकते जो उन्होंने 'योगी का आत्मचरित्रा' के प्रसंग में निकाले हैं। निश्चय ही उनका परिश्रम व अनुसंधान जो उन्होंने इस विषय पर किया है वह प्रशंसनीय है।

शोधकर्तृताओं से मेरा इतना ही निवेदन इस प्रसंग में रहेगा कि महर्षि दयानन्द की १८५७ की जन-क्रान्ति में भागीदारी निरी कल्पना या गपौड़ा नहीं है कि उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाये। ऋषिवर दयानन्द के समग्र साहित्य में यत्रा-तत्रा फैले स्वाधीनता, राष्ट्रभक्ति, पुरातन इतिहास के प्रति स्थिर अनुराग, देश की दयनीय स्थिति के प्रति करुणा व आक्रोश के भाव-विचार इतने प्रबल हैं कि उनको मात्रा धार्मिक या आध्यात्मिक व्यक्ति मानना गलत होगा। उनकी हत्या जिन परिस्थितियों व कारणों से हुई और अपनी आत्मकथा जिस अलंकारिक शैली में उन्होंने लिखी उससे भी इस विश्वास को बल मिलता है कि सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन से वे अपने को अलग नहीं रख सके थे। डॉ० भवानीलाल भारतीय इस बात का सटीक उत्तर आज तक नहीं दे सके हैं कि पं. हेमचन्द्र चक्रवर्ती की डायरी को प्रमाण मान कर उन्होंने कलकत्ता का उल्लेख करते हुए जो यह लिखा है कि स्वामी दयानन्द २२ से ३१ मार्च १८७३ तक बाराह नगर (कलकत्ता) में किसी ग्रन्थ-लेखन में व्यस्त रहे, वह ग्रन्थ-लेखन आखिर क्या था जो आज तक सामने नहीं आ पाया? चक्रवर्ती महाशय ने केवल इतना लिखा है- १८-२१ मार्च १८७३ स्वामी जी को साथ लेकर बाराह नगर लौटा। २१-३१ मार्च, १८७३ स्वामी जी ने एकान्त में (निस्संग भावे) ग्रन्थ प्रणयन करने में अपने को लगाया (आत्मनियोग) संध्या समय उनका उपदेश हुआ। डायरी के अनुसार १ अप्रैल १८७३ ई० को दयानन्द बाराह नगर को छोड़कर भूदेव मुखोपाध्याय के साथ हुगली में उपस्थित हुए। ऋषि दयानन्द के सभी ग्रन्थों के इतिहास का विवेचन पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी ने

किया था लेकिन 'योगी का आत्मचरित्रा' के इतिहास का विवेचन उन्होंने नहीं किया। ऐसी स्थिति में इस बात को मान लेना कोरी कल्पना नहीं हो सकती कि कलकत्ता प्रवास में स्वामी दयानन्द ने 'योगी का आत्मचरित्रा' नामक पुस्तक की ही पाण्डुलिपि तैयार की होगी जो यत्रा-तत्रा उनके प्रिय भक्तों के पास पड़ी रही। यत्रा-तत्रा पड़ी रहने का कारण यह रहा होगा कि उसके एक स्थान पर रहने से इस बात का भण्डाफोड़ होने का भय अधिक बना रहता जो ऋषिवर को स्वीकार्य नहीं था क्योंकि वे स्वाधीनता आन्दोलन की एक नई योजना लेकर बढ़ना चाहते थे जो आगे चलकर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में निरन्तर प्रस्फुटित भी होती रही। कलकत्ता-प्रवास के पश्चात ही वे खुल कर समाज में उतरे थे। माननीय प्रो० उमाकान्त जी उपाध्याय का भी यही अभिमत रहा है कि इन दस दिनों में २२-३१ मार्च को क्या प्रणयन ऋषि ने किया, इसका एक सम्भावित उत्तर योगी का आत्मचरित्रा ही हो सकता है। यदि यह ग्रन्थ प्रणयन किसी सामान्य विषय पर होता तो महर्षि दयानन्द अथवा चक्रवर्ती महाशय को विषय का उल्लेख करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी। वस्तुतः यह किसी महत्वपूर्ण विषय पर लिखा गया विशेष विवरण था जिसे गुप्त रखा गया। यह डायरी भी १९५४ में जाकर प्रकाश में आई।

అమిస్తాపూర్ ఆర్య సమాజంలో శ్రావణి సందర్భములో యజ్ఞమును
నిర్వహించుచున్న ఆచార్య విశ్వశ్రవః మరియు
శ్రీ హరికిషన్ వేదాలంకార్ గారు, వారితో పాటు ఆర్య సమాజ్ అమిస్తాపూర్,
చౌదర్‌గూడ ఆర్య సమాజ్ సభ్యులను చిత్రంలో చూడవచ్చును.

ఆర్యసమాజము - అమిస్తాపూర్

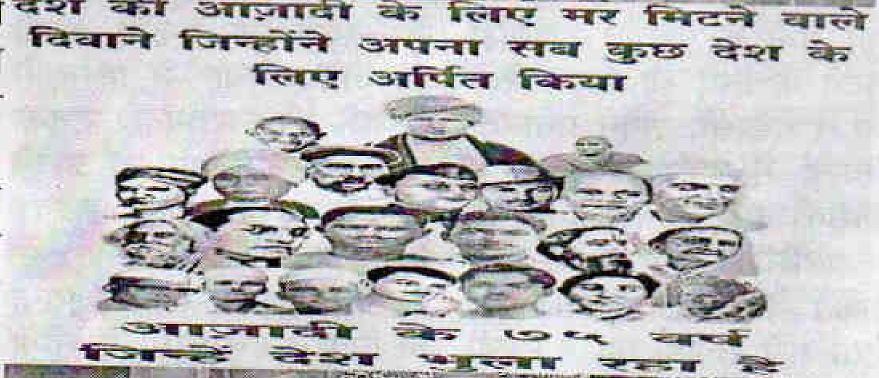
देश की आज़ादी के लिए मर मिटने वाले
दिवाने जिन्होंने अपना सब कुछ देश के
लिए अर्पित किया
आज़ादी के ७५ वर्ष
जिन्हें देश भुला रहा है

स्वामी दयानन्द और १८५७ की क्रान्ति चेष्टा

-पृथिवी सिंह मेहता विद्यालंकार

मैंने अपनी कुछ समय पूर्व प्रकाशित पुस्तक ''हमारा राजस्थान'' में स्वामी दयानन्द के जीवन और कार्यों पर समसामयिक घटनाओं और इतिहास की दृष्टि से प्रकाश डालने का जतन किया था। मेरा लक्ष्य उस पुस्तक में मुख्यतः राजस्थान इतिहास की संक्षिप्त समीक्षा करना था। दयानन्द का राजस्थान के आधुनिक इतिहास से गहरा सम्बन्ध है और भारत के आधुनिक नवजागरण में भी उनका महत्वपूर्ण भाग रहा है, इस दृष्टि से उनके जीवन और कार्यों का मूल्यांकन करना भी उस पुस्तक में आवश्यक था।

भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण, विशेषतः, पूर्ण स्वाधीनतावादी क्रान्तिकारी आन्दोलन से दयानन्द का सम्बन्ध उनके दो प्रमुख शिष्यों श्यामजी कृष्ण वर्मा और कृष्णासिंह बारहट के द्वारा सीधा जुड़ जाता है। और दूसरी तरफ १८५७ का भारतीय स्वाधीनता का विफल युद्ध दयानन्द के जीवन काल के अन्तर्गत उनकी यौवनावस्था में हुआ था, उनके अपने सार्वजनिक जीवन का आरम्भ उसके ठीक बाद से होता है। उनके ग्रन्थों, भाषणों आदि के अवलोकन से यह बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि उनके हृदय में देश की पराधीनता और अलान व्यवस्था के प्रति गहरी वेदना भरी थी और वे देश के धर्म और समाज का सुधार इसलिए चाहते थे कि राष्ट्र बलवान हो, स्वतन्त्रा और स्वावलम्बी बने और अपने पांव पर आप खड़ा हो सके। ऐसी दशा में उनके जीवन पर ऐतिहासिक दृष्टि [illegible] विचार करने वाले हर किसी व्यक्ति के मन में स्वभावतः ही यह प्रश्न उठेगा कि १८५७ की घटनाओं के समय वे कहां थे और क्या कर रहे थे? उन घटनाओं के प्रति रुख क्या था और उनके विचारों और कार्यों पर उनका क्या प्रभाव पड़ा था?

मैं अपनी इतिहास-समीक्षा में जब उक्त स्थल पर पहुँचा तो मैंने प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री जयचन्द विद्यालंकार से इस विषय में सलाह मांगी। उन्होंने भी, जैसाकि उन्होंने मेरे उक्त ग्रन्थ की अपनी प्रस्तावना में लिखा है, लगभग वही प्रश्न मेरे सामने कुछ और स्पष्ट भाषा में रक्खे और दयानन्द के जीवन को उनके प्रकाश में एक बार बारीकी से टटोले जाने की सलाह दी। अपने इस अध्ययन का फल मैंने हमारे राजथान में दर्ज किया है ताकि विद्वान् उस दिशा में और खोज करने में प्रवृत्त हों।

मेरे अध्ययन से जो तथ्य प्रकट हुए वे संक्षेप में थे १. दयानन्द १८५७ के स्वाधीनता युद्ध के समय ३३-३४ वर्ष के जवान थे जो ज्ञान की तलाश में घूम रहे थे। युद्ध के ठीक पूर्व से अर्थात् मई १८५६ से मार्च १८५७ तक वे ठीक उसी प्रदेश में कानपुर और बनारस के बीच विचर रहे थे, जहां उस क्रान्ति का स्वरूप सबसे उग्र रूप में प्रकट होने वाला था।

क्रान्ति की तैयारियां मार्च १८५७ तक पूरी होकर एक साथ उठने की तिथि भी निश्चित हो चुकी थी। क्रान्ति के मुख्य नेता नाना साहब पेशवा अपने मन्त्रादाता अजीमुल्ला को साथ लेकर तीर्थ यात्रा के बहाने उस तैयारी का निरीक्षण करने उसी मास निकले थे, तथा उनके सैंकड़ों दूत क्रान्ति का संदेश लेकर साधू फकीरों के वेष में तभी देश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए रवाना हुए थे। दयानन्द को भी हम ठीक तभी बनारम का गंगातट छोड़ नर्मदा कांठे की ओर मुड़ता पाते हैं।

२. दयानन्द अपनी स्वकथित जीवनी का अन्त यहां आकर सहसा कर देते हैं और आगे तीन वर्ष तक, जबकि क्रान्ति का वेग देश में चल रहा था, वे कहां रहे और क्या करते रहे इसका कोई पता या लिखा उन्होंने किसी को न दिया। उनके जीवन की अगली घटनाओं पर से परदा १८६० में उठता है जब कि वे हाथरस से एकाएक मुरसान होकर मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने जाते दिखाई पड़ते हैं।

३. दयानन्द की जीवनी में यह बात दर्ज है कि विरजानन्द के पास मथुरा जाकर पढ़ने की प्रेरणा उन्हें १८५५ के आरम्भ में विरजानन्द के गुरु स्वामी पूर्णानन्द द्वारा हरद्वार में ही मिल चुकी थी। उसके बाद वर्ष १८५५ समूचा गढ़वाल के पहाड़ों में बिता कर १८५६ में पौड़ी के रास्ते मैदान में उतर आना और फिर गंगा के सहारे बुलन्दशहर और गढ़मुक्तेश्वर तक आना तो स्वभाविक रूप में समझ आता है। पर गढ़मुक्तेश्वर के बाद मथुरा की तरफ न मुड़ उनका कानपुर चले जाना और ५ महीने कानपुर इलाहाबाद के बीच चक्कर काटने के बाद बनारस तक जा एकाएक नर्मदा की तरफ मुड़ जाना तथा अगले तीन वर्ष की चर्यूया का कोई ब्यौरा किसी को न देना और गुरु विरजानन्द के पास जाने के अपने संकल्प को चार वर्ष तक मन में दबाये रख्ना साधारण दृष्टि से प्रायः अव्याख्येय है, जब तक कि उस क्रान्ति की घटनाओं से कोई सम्बन्ध न हो।

४. दयानन्द की जीवनी में यह बात भी दर्ज है कि १८८० में उन्होंने मेरठ में अपने कुछ भक्तों से बातचीत के दौरान में कहा कि वे गंगास्रोत से गंगासागर और रामेश्वरम् तक सारा भारत पैदल घूमे थे। किन्तु उनके जीवन का जो वृत्तान्त उपलब्ध होता है उसमें तो वे सतारा के दक्खिन कभी गये हों इसका कोई विवरण नहीं कि यह यात्रा उन्होंने यदि कभी की हो तो वह इन तीन-चार वर्षों के भीतर ही की गई होगी। किन्तु उसका वृत्तान्त उन्होंने किसी को भी बताना उचित क्यों नहीं समझा, इसकी व्याख्या करनी होगी।

दयानन्द के शिष्यों और साथियों में उनके अत्यन्त विश्वस्त और निकट के दो श्यामजी कृष्ण वर्मा और कृष्णसिंह बारहट मुख्य थे और दोनों ही भारत में पहले क्रान्तिकारियों में थे। श्यामजी को यूरोप जाकर पढ़ने और वहां के वातावरण का प्रथम श्रेणी का ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा और व्यवस्था स्वयं दयानन्द ने ही की थी। और कृष्णासिंह बारहट उनके राजस्थान के राजाओं को जगाने और प्रेरणा भरने के कार्य में मुख्य सहायक थे। उन्होंने और उनके पुत्रों केसरीसिंह और जोरावरसिंह तथा पौत्रा प्रतापसिंह आदि ने भारत की स्वाधीनता के लिए किये गए क्रान्तिकारी प्रयत्नों में आगे किस रूप में योग और बलिदान दिये सो द्रष्टव्य है।

मैंने अपने ग्रन्थ ''हमारा राजस्थान'' में इन सभी तथ्यों को इक्ट्ठा कर पाठकों के सामने रख दिया था कि इससे सहज बुद्धि से जो भी परिणाम निकलता है उसे वे स्वयं निकालें। विद्वानों और जनता को इससे सोचने और अध्ययन करने की एक नई दिशा मिली है और प्रायः सभी दिशाओं में उसका स्वागत किया गया है। किन्तु कुछ क्षेत्रों में, जो उसे अभी तक सदा दूसरी दिशा में सोचते रहे हैं, इससे कुछ और बेचेनी भी फैली प्रतीत होती है और वहां इसको लेकर एक बड़ा विवाद उठा खड़ा हुआ है।

दिल्ली की सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मुखपत्रा मासिक ''सार्वदेशिक'' के सम्पादक पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति ने ८ मार्च १६५१ के साप्ताहिक 'आर्यमित्रा की कतरन मेरे पास देखने को भिजवाई है। उसमें प्रयाग के वयो वृद्ध आर्य समाजी विद्वान् गंगा प्रसाद जी उपाध्याय का लेख मेरी स्थापनाओं के विरोध में छपा है। उन से पूर्व महेश प्रसाद जी का भी कोई लेख इस विषय पर उसी पत्रा में छप चुका है यह उपाध्याय जी के उक्त लेख से ही मुझे विदित हुआ। उपाध्याय जी ने अजमेर के श्री हरविलास सारडा से भी इस विषय में पत्रा व्यवहार किया जो मार्च के सार्वदेशिक में प्रकाशित हुआ है। विद्वान् सम्पादक ने उसकी भी प्रति मेरे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की है।

महेशप्रसाद जी का लेख तो इनमें मेरे देखने में आया नहीं। हरविलास जी से उपाध्याय जी ने जिस रूप में प्रश्न किया उसमें मेरी समूची उक्ति परम्परा और विचारधारा को जाने बिना उनका वैसा उत्तर देना स्वाभाविक था। सारी उम्र अंग्रेजों की खैर ख्वाही करने वाले सज्जन नाना साहब पेशवा और

तांत्या टोपे साधारण चोर-डाकुओं और हत्यारों से अधिक कभी कुछ समझ सकेंगे इसकी सम्भावना कम है। दयानन्द जैसे व्यक्ति के, जिस को कि वे अपना धर्म गुरु मानते आये हैं, उनसे या उनके आन्दोलन से किसी तरह का सम्बन्ध होने की कल्पना भी उन्हें कैसे सह्य हो सकती थी? जिस भाषा में हरविलास जी का वह उत्तर है उसमें विवाद करने की मेरी आदत नहीं है।

उपाध्याय जी ने भी अपने लेख में मेरी बातों की खिल्ली उड़ाने और छींटाकशी करने की चेष्टा की है। उस पर कुछ भी कहे बिना मैं यहां केवल उनके तर्कों का उत्तर देता हूँ।

(१) उपाध्याय जी की आपत्ति है कि अनुमान और कल्पना को भी इतिहास में स्थान दिया है। मेरा निवेदन है कि कल्पना को हमने कोई स्थान नहीं दिया, पर अनुमान प्रमाण का सहारा लेना इतिहास में भी उतना ही आवश्यक होता है जितना किसी अन्य विज्ञान के अनुसन्धान कार्य में। जिन आधारों पर दयानन्द का सम्बन्ध १८५७ की क्रान्ति से होना अनुमानित होता है वे मैंने संक्षेप में ऊपर दिये हैं, उसकी दूसरी व्याख्या क्या हो सकती है?

(२) उपाध्याय जी का उपदेश है ''दयानन्द का मान और कीर्ति बढ़ाने को यदि कोई भक्त अपनी कल्पना शक्ति को इतिहास के नाम से सम्बद्ध करता है तो वह संसार का अहित ही करता है।'' किन्तु श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार की गिनती भक्तों में कभी नहीं हुई और न मैं ही कोई भक्त हूँ।

(३) उपाध्याय जी लिखते हैं कि दयानन्द के ग्रन्थों को वे पढ़ते रहे हैं। उनकी विचारधारा तथा उनके मंतव्यों तथा कार्य प्रणाली का उन्हें जो आभास उनसे मिला है उससे बात मेल नहीं खाती। उन्हें यह सब देख कर खेद होता है। ''दयानन्द का नाम नाना से जोड़ बड़ा अनर्थ है।''

यह बात आसानी से समझ आ सकती है कि जो हरविलास सारदा और उपाध्याय जी के मन में दयानन्द की जो कल्पना अब तक रही है, दयानन्द के क्रान्तिकारी स्वरूप से उसका मेल खाना कठिन है। किन्तु दयानन्द के हजारों लाखों अनुयायियों ने उन्हें सदा दूसरे ही रूप में देखा है। और यह भी न भूल जाना चाहिए कि श्यामजी कृष्ण वर्मा और कृष्ण सिंह बारहट आदि भी दयानन्द के ही शिष्य थे। श्यामजी के विचार में दयानन्द का क्या स्वरूप था यह बनारस के पं० राम नारायण जी मिश्र की उनसे १९२७ या २८ में स्विटजरलैण्ड में हुई मुलाकात के वृत्तान्त से स्पष्ट होता है जिसमें श्यामजी ने अपनी दयानन्द की जीवनी विषयक इक्ट्ठी की गई बहुत-सी सामग्री का अवलोकन कराते समय उनसे कहा था कि दयानन्द के असली रूप को लोगों ने अभी तक नहीं समझा, आर्यसमाज ने उन्हें केवल एक धर्म गुरु रूप में ही प्रस्तुत करने का जतन किया। श्यामजी स्वयं दयानन्द की जीवनी लिखने को उत्सुक थे यदि आर्यसमाज एक अच्छे सहायक को उनके पास भेज देता। किन्तु आर्य समाज ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस बीच वह महारथी विदेश में चल बसा। उनकी सामग्री का क्या हुआ आर्यसमाज ने उसकी सुध अभी तक नहीं ली।

पं० रामनारायण जी इस विषय में अपने संस्मरण स्वयं भी शीघ्र प्रकट करने का विचार कर रहे हैं। अस्तु।

(४) दयानन्द के एक तीसरे चेले स्वामी श्रद्धानन्द थे। १८५७ की क्रान्ति चेष्टा के प्रति बन उनके विचार क्या थे सो उनकी स्वलिखित जीवनी ''कल्याण मार्ग का पथिक'' के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है।

''लाहौर जाने से पहले मेरे पिता.......सारे परिवार से अलग हो गये।..... बड़ी बहिन के विवाह की तैयारी थी और उसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। लाहौर में वेतन इतना नहीं था कि परिवार का गुजारा करते हुए अपनी पुत्री के विवाह पर करतूत करने से न गिर जावें। इधर विवाह में नाक कटने का डर, उधर सम्वत् १९१४ विक्रमी (१८५७ ई०) का विप्लव जिसे गोरों ने गदर की उपाधि दे रक्खी थी। पिता जी ने एक टट्टू पर जीन डाल कर परमेश्वर का नाम ले दिल्ली का रास्ता पकड़ा। भाग्य की सहायता से हिसार नगर की शहरपनाह के अन्दर उस दिन

प्रवेश किया जब बागियों ने गढ़ हिसार को घेर रक्खा था। एक सरदार भी दो सौ सवार लेकर उस सरकार की जड़ें भारतवर्ष में दृढ़ करने जा रहे थे जिसने कुछ वर्ष पूर्व पहले ही पंजाब को दास बना लिया था। सरदार साहब ने..... जो हमला किया तो बागियों के छक्के छूट गये और मेरे पिता जी ने एक चौधरी के घर ब्रह्म भोज का सामान बनता देख उसे इस बात पर राजी कर लिया कि.....बना बनाया पक्वान नये जंगी बेड़े को भेंट कर दें। सरदार साहब तो लूटमार रूपी इनाम लेने के लिये दिल्ली चल दिये और पिता जी हिसार के बागी कोतवाल का 'जाल किरच सम्भाल बागियों को फांसी दिलवाने के शुभ काम पर तैनात हुए। यहां रिश्वत की कमाई से न केवल पुत्री के विवाह के लिये पर्याप्त धन ही घर पर भेज दिया प्रत्युत घोड़े खरीद और अपने परिवार के २५ व्यक्तियों को रिसाले के छोटे अफसर बना और ७५ जाटों को घुड़सवारी के लिये साथ लेकर, मेरठ पहुँच गये। वहां रिसालदार नियत होकर पहला शुभ काम यह किया कि तीन महीनों में सहारनपुर के सारे जिले के हथियार ले लिये और उस जिले के गले में सदा के लिये गुलामी का तौक पहरा कर नैपाल की तराई में मेलाघाट की लड़ाई का जा छापा मारा। वहां भी पूजा पाठ न छूटा। नदी के पास ही कैम्प था। उस पार बागियों की बाढ़ दूसरे किनारे से फेंकी जाती थी। परन्तु रिसालदार साहब के लिये एक घड़ा पानी का गजरदम ही आ जाता था और वह नहा कर पूजा कर लेते।''

इस संदर्भ में उन्होंने स्वयं अपने पिता तक की १८५७ में की गई करतूतों पर कैसी चुटकियां ली हैं।

दयानन्द के ग्रन्थों से उपाध्याय जी को उन के कार्यों और विचार प्रणाली के विषय में जो भी आभास मिला हो दूसरा जो कोई उन्हें सरसरी दृष्टि से भी देखेगा इस बात से प्रभावित हुए बिना न रहेगा कि देश की पराधीनता की वेदना उनके हृदय में कितनी गहरी थी और उसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में मौके बे मौके कितने मार्मिक रूप में प्रकट किया है। भारतवासियों की अपनी खोई राजनीतिक महत्ता को पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा तो उनमें स्थान-स्थान पर कूट-कूट कर भरी है। ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रीय पूर्ण स्वाधीनता के सिद्धान्त के आदर्श का स्पष्ट प्रतिपादन भारतीय साहित्य में पहले पहल दयानन्द ने ही किया। बाद में बंगाल के श्री बंकिमचन्द चटर्जी और महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने भी उसी आदर्श की घोषणा दूसरे रूपों में की। उपाध्याय जी शायद कहना चाहते हैं कि यह सारी भावना दयानन्द में बिना किसी देश काल के अवलम्ब और वास्तविक जीवन की अनुभूति के केवल आदर्शवादी चिन्तन से इतने उग्र रूप में पैदा हो गई थी।

(५) श्री उपाध्याय जी का कहना है कि दयानन्द ने ''किसी को इस प्रकार के (क्रान्तिकारी) कार्य के लिये शिक्षा नहीं दी थी।'' इसका उत्तर तो कृष्ण सिंह बारहट और श्यामजी कृष्ण वर्मा की जीवनियाँ स्वयं है। ध्यान रहे कि १८५७ की जयन्ति मनाने, प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के रूप में उनकी स्मृति और परम्परा को भारत में पुनः जगाने का जतन भी पहले-पहले उनके शिष्य श्याम जी और उनकी परम्परा के विनायक दामोदर सावरकर तथा हरदयाल आदि ने ही किया था।

(६) मार्च १८५७ में दयानन्द के गंगातट छोड़ नर्मदा स्रोत की ओर जाने की व्याख्या में उपाध्याय जी का कहना है कि स्वामी दयानन्द जो चाहते थे उसके लिए क्रान्ति का वातावरण सर्वथा अनुपयुक्त था। क्या यह सम्भव नहीं है कि इसी लिए वह (दयानन्द) नर्मदा कांठे की ओर चले गये हों या सम्भव नहीं है कि उनका क्रान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं हो।'' अर्थात् दयानन्द संघर्ष से घबराते थे इसी से बचने के लिये नर्मदा की तरफ भाग गये थे। मेरे अनुमान पर आपत्ति करते उपाध्याय जी यहां स्वयं किस तरह के अनुमानों पर उतर आये हैं।

किन्तु नर्मदा का वह कांठा जहां क्रान्ति के वातावरण से बचा कर उपाध्याय जी दयानन्द को ले जाना चाहते हैं, उस

समय भारत का सबसे अधिक राजनीतिक चेतना सम्पन्न प्रदेश था। उस युग के अंग्रेज राजनेताओं को भी अपनी हर चाल के निर्धारण से पूर्व सदा यह सोचना पड़ता था कि उस प्रदेश के निवासियों पर उसकी प्रतिक्रिया क्या होगी, यह बात स्व० वामनदास बसु की पुस्तक 'भारत में ईसाई शक्ति का उदय' (राइज़ा आफ क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया) में दिये गये समकालिक अंग्रेज लेखकों के उद्धरणों से स्पष्ट विदित होती है। १८५७ ई० के क्रान्तिकारियों की भी नज़ार आरम्भ से अन्त तक सदा सबसे अधिक उसी प्रदेश पर थी, क्योंकि वह उत्तरभारत, महाराष्ट्र और दक्खिन के बीच कड़ी रूप में था। १८५८-५९ में युद्ध की विफलता निश्चित हो जाने पर भी तांत्याटोपे का लक्ष्य एक बार उस इलाके में पहुँच जाना ही था और अंग्रेज उसे वहां न पहुँचने देने को चिन्तित थे, यह बात "हमारा राजस्थान" में तांत्याटोपे के संघर्षों का जो वृत्तान्त दिया गया है उसी से स्पष्ट हो जाएगी।

(७) फिर सबसे बड़ा महत्व का प्रश्न तो यह है कि दयानन्द मार्च १८५७ के बाद १८६० तक की अपनी चर्य्या का कोई ब्यौरा क्यों नहीं देते? इस विषय में उनका यह मौन ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि अवश्य वे इस समय किसी ऐसे कार्य में संलग्न रहे थे जिस का ब्यौरा १९वीं सदी के उस उत्तरार्ध में देना उन्हें किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ा। उपाध्याय जी ने इस प्रश्न की व्याख्या कुछ भी नहीं की।

(८) दयानन्द के १८५७ की क्रान्ति में भाग लेने की कुछ भी सम्भावना पर उपाध्याय जी की एक मुख्य आपत्ति है कि उनके मार्च १८५७ में गंगा कांठे से नर्मदा कांठे की ओर जाने की बात, यदि क्रान्ति का सन्देश लेकर देश के कोने-कोने के लिये साधु कुछ फकीरों के वेष में जाने वाले नाना के उन सैंकड़ों दूतों के सिलसिले में कही जायगी तो वे नाना के एजेंट सावित होंगे। उपाध्याय जी को यह विलकुल सहन नहीं होता। वे कहते हैं "क्या यह मान लेना आसान है कि दयानन्द जैसा साहसी भावना प्रवन और चेतनावान् युवक प्रवृत्ति और इच्छा होते हुए किसी आन्दोलन में केवल गौण भाग ही लेवे और केवल चुप्पी साध जाए....यदि उनको (१८५७ की क्रान्ति चेष्टा में भाग लेना) अभिमत होता तो वे कभी पीछे न हटते। किसी का सन्देश वाहक बनना उनको प्रिय न था।.....शायद सह्य भी न था।"

किन्तु १८५७ तक दयानन्द एक युवक विद्यार्थी मात्रा थे, उनके व्यक्तित्व का पूर्ण स्वतन्त्रा विकास तब तक न हुआ था और न वह आन्दोलन उनकी अपनी कृति या सृष्टि था। फिर अपने देश के राजा या नेता के अधीन देश की स्वाधीनता के लिये उनका एजेंट या कारिन्दा बन कर कार्य करने में भी कोई हेठी होती है? किसी विदेशी या स्वदेशी निरंकुश अत्याचारी शासक का प्रजा के विरुद्ध एजेण्टा बनना तो अवश्य अपमानजनक और घृणित है। किन्तु दयानन्द यदि ऐसे शुभ और महत्त्वपूर्ण कार्य में भी किसी के सन्देश वाहक बनकर कार्य नहीं कर सकते थे या वह स्थिति उन्हें सह्य न हो सकती थी तब तो यह उनके अत्यधिक अहम् भाव का ही सूचक होगा। दयानन्द के चरित पर ऐसा आरोप तो शायद उनका कोई दुश्मन भी न लगावेगा।

(९) श्री उपाध्याय जी का तर्क है कि दयानन्द "फुलझड़ी छोड़ कर स्वयं अलग हो" जाने "और आयु भर कभी उसका उल्लेख भी नहीं" करने वाले "भीरू या उत्तरदायित्व शून्य" व्यक्ति न थे। अतः यदि क्रान्ति में भाग लेना उनको अभिमत हुआ होता तो वे उसके विषय में स्पष्ट कहने से कभी न चूकते।

स्पष्टवादिता या निर्भीकता का अर्थ उपाध्याय जी यदि अव्यवहारिकता और मन्त्रा गोपन की अक्षमता करते हों तो मुझे उनसे कोई विवाद नहीं। वे दयानन्द को शायद इतना मूर्ख साबित करना चाहते हैं कि दयानन्द अपना भेद बिना किसी प्रयोजन के प्रकट कर अपने अगले सारे कार्यक्रम और प्रयत्नों को विफल और निष्प्रयोजन बना देते।

१८५७ की क्रान्ति चेष्टा भी, मालूम होता है उपाध्याय जी की दृष्टि में फुलझड़ी छोड़ना मात्रा थी। किन्तु कोई भी

जिम्मेदार ऐतिहासिक ऐसा न कहेगा। भीरुता या उत्तरदायित्व शून्यता का तो यहां प्रश्न ही कहां आता है? क्या एक कार्य के सम्पादन के लिये एक तरह से किये गये प्रयत्नों की निष्फलता या अपर्याप्तता देख कर दूसरे प्रकार के उपायों की योजना और प्रयत्न करना ''फुलझड़ी छोड़ कर अलग हो जाना कहलायेगा?

(१०) दयानन्द के गुरु विरजानन्द के विषय में मैंने अपनी पुस्तक में दिखाया है कि वे कोई साधारण साधु या पण्डित नहीं थे। उनका यौवन ब्रज में उस समय बीता था जब वहां स्वदेशी शासन का अन्त हो विदेशी का आधिपत्य स्थापित हुआ था। उन्हें उस राज्य परिवर्तन को अपने सामने होता देख यह अनुभव करने का मौका मिला था। १८१५ से ४० तक हाथरस, मुरसान, भरतपुर, अलवर आदि के जिस किसी पुराने जागीरदार, राजा या सरदार ने उस प्रदेश में अंग्रेजों के विरुद्ध उठने और वीरता पूर्वक उनसे टक्कर लेने का साहस किया विरजानन्द का सम्बन्ध उन सबसे घनिष्ठ था। एक दो को तो उन्होंने इनमें से स्वयं राजधर्म आदि पढ़ाया था।

१८५७ की विफलता से मालूम होता है भारत की पण्डित मण्डली के भीतर भी एक भारी विमर्श पैदा कर दिया था। हमारे समाज का एक बड़ा रोग उस विफलता के कारण स्पष्ट प्रकट हो गया था। भारत की पराधीनता के कारणों पर जो कोई भी व्यक्ति गहरा विचार करेगा, मध्यकालीन (अनार्ष) साहित्य का मूर्छा कारी प्रभाव एक मुख्य कारण के रूप में उसे स्पष्ट दिखाई देगा। विरजानन्द का आर्ष अनार्ष ग्रन्थों वाला आन्दोलन जिसे उनहोंने १८५७ के शीघ्र बाद और दयानन्द के मथुरा पहुँचने के कुछ ही पहले आरम्भ किया था, मालूम होता है उसी विमर्श का परिणाम था। विरजानन्द प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे और उसके ताजगी लाने वाले जीवनदायी प्रभाव को जानते थे। उन्होंने इस समय प्रतीत होता है कि स्पष्ट रूप से यह अनुभव किया था कि उस युद्ध की विफलता के कारणों में उस प्राचीन (आर्ष) साहित्य का पठन पाठन बन्द होकर मध्यकालीन (अनार्ष) भागवत जैसे अन्ध विश्वास फैलाने वाले ग्रन्थों का प्रचलन भी एक मुख्य कारण था।

मैंने पठनकाल में वर्णित दयानन्द विरजानन्द के बीच होने वाले एकान्त संलापों के विषय में अनुमान किया था कि उनमें शास्त्रा चर्चा के अतिरिक्त देश की दशा पर भी गुरु शिष्य में अवश्य विमर्श होता होगा। श्री उपाध्याय जी को यहां कुछ औपन्यासियों की सी कल्पना की गन्ध आई है। वे लिखते हैं ''कि स्वामी विरजानन्द (सिर्फ) राजाओं द्वारा शास्त्रार्थ कराना चाहते थे। शास्त्रार्थ ही उनको प्रिय था। दयानन्द को भी उन्होंने आर्ष अनार्ष ग्रन्थों के विषय में शिक्षा दीक्षा (इसी अभिप्राय से) दी थी। वही उन का विषय था। क्रान्तिकारी लोगों का दृष्टिकोण सर्वथा इससे भिन्न था। उन्हें आर्ष अनार्ष से क्या प्रयोजन? यदि विरजानन्द में नैतिकता न होती तो वे कभी स्वामी दयानन्द को कौमुदी पर जूता लगाने को न कहते।'' मानो कौमुदी पर जूते लगवाना कोई बड़ा भारी नैतिकता का कार्य था और क्रान्ति में योग देना या उस तरह की प्रवृत्ति रखना अनैतिकता है। नैतिकता अनैतिकता की यह विचित्रा परिभाषा श्री उपाध्याय जी को मुबारिक हो। मेरे जैसी तुच्छ बुद्धि के लोगों की दृष्टि में तो जिसे वे अनैतिक कहते है वही शायद नैतिकता की सबसे बड़ी निशानी ठहरे।

किन्तु विरजानन्द कैसे गुरु थे सो तो उनकी पाठ समाप्ति के बाद दयानन्द से मांगी गुरु दक्षिणा से ही प्रकट हो जाता है। देश के उद्धार और जनहित की कितनी उदात्त भावना और तीखी अनुमति उसमें से छलकती है। ऐसी गुरु दक्षिणा किसी शिष्य से मांगने के लिए आवश्यक है कि उससे पहले गुरु शिष्य में उस निमित्त काफी अन्तरंगता स्थापित हो चुकी हो, दोनों में विद्याभ्यास काल में उस पर काफी विमर्श होता रहा हो। विरजानन्द उस विषय में कितने उत्सुक थे यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि विद्या समाप्ति के बाद चार पांच बरस जब दयानन्द अपना कोई स्पष्ट कार्यक्रम प्रकट करने में असमर्थ रहे तो विरजानन्द

सन्देशवाहकों द्वारा उनके पास बार-बार तकाजा करने और निराशा तक प्रकट करने लगे थे।

(११) श्री उपाध्याय का अगला तर्क कि ''क्रान्ति के लिए संघटन करने के लिए मूर्ति खण्डन और पण्डितों से शास्त्रार्थ की आवश्यकता न थी'', ''अतः यदि विरजानन्द के हृदय में क्रान्तिकारी भावना जरा भी होती तो वे दयानन्द को और ही तरह की शिक्षा देते, दयानन्द की विचारधारा ही और प्रकार की होती'' और भी अद्भुत है। उपाध्याय जी यहां क्या इतना भी नहीं देख सकते कि जो क्रान्तिकारी देश में लोकतन्त्रा की स्थापना के लिए आन्दोलन करता होगा, अपनी जनता में फैले अन्धविश्वासों को दूर करने का यत्न उसे सब से पहले करना होगा। भारत की जनता के अन्धविश्वासों को दूर करना यहां लोकतन्त्रा की स्थापना की पहली सीढ़ी है।

(१२) अन्त में मेरे इतिहास ज्ञान की खिल्ली उड़ाने के उद्देश्य से उपाध्याय जी ने मेरी दो गलतियों की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। उनमें पहली गलती तो यह है काशी शास्त्रार्थ की तिथि के विषय में, जो छपाई या प्रूफ संशोधन की चूक के कारण १८६९ ई० की बजाय १८७३ छप गयी है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। वह और वैसी दूसरी अनेक गलतियां पुस्तक के इस संस्करण में छपाई प्रूफ संशोधन की गफलत के कारण रह गई है जिनके विषय में अपनी वस्तु कथा के अन्त में पाठकों से क्षमा मांग चुका हूँ। तथापि उपाध्याय जी की इसे सुझा देने की कृपा के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। दूसरी गलती उन्होंने दिखायी है कि सत्यार्थ प्रकाश के छठे राजधर्म सम्बन्धी समुल्लास को दयानन्द द्वारा १८८२ में उदयपुर में बैठकर लिखने और उसमें की विषय वस्तु महाराणा सज्जनसिंह को पढ़ाने के विषय में। उपाध्याय जी का कहना है कि यह समुल्लास प्रथम सत्यार्थ प्रकाश में भी ज्यों का त्यों था, जो १८७४ में लिखा गया था।

प्रथम सत्यार्थ प्रकाश इतनी सुलभ वस्तु नहीं है कि हर कोई उसे आसानी से देख सके। मेरा लक्ष्य इस पुस्तक में राजस्थान इतिहास की समीक्षा करना था, दयानन्द के जीवन पर कोई स्वतन्त्रा ग्रन्थ या नयी खोज करना नहीं। उस पर तो मुझे प्रसंगवश कुछ ही पृष्ठ लिखने पड़े। उन्हें लिखते समय मेरे पास इतना समय या साधन कहाँ थे कि मैं दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में हर मूल स्रोत की सीधी परीक्षा कर सकता। इससे मुझे वहां अपनी सम्भावना मात्रा प्रकट करके संतोष करना पड़ा था। उपाध्याय जी को प्रथम सत्यार्थ प्रकाश की प्रति सुलभ हुई और उन्होंने उसे देख कर मेरी उक्त सम्भावना की गलती प्रकट करने की कृपा की इस पर मैं उनका बड़ा आभारी हूँ। तथापि मेरी पूरी तसल्ली इस विषय में तब होगी जब मैं प्रथम सत्यार्थ प्रकाश और द्वितीय सत्यार्थ प्रकाश में उस समुल्लास को पूरी तरह मिला कर देख लूंगा।

నల్లగొండ ఆర్య సమాజంలో శ్రావణి సందర్భములో యజ్ఞమును నిర్వహించుచున్న ఆచార్య వేదమిత్ర గారు. ఇంకొక చిత్రంలో యజ్ఞమును నిర్వహించుచున్న సభ్యులు మరియు ఆర్య సమాజ అధికారులు శ్రీ బి. కృష్ణా రెడ్డి గారు అధ్యక్షులు ఆర్య సమాజము మరియు మంత్రి శ్రీ జి. గోపాల్ రెడ్డి గారు మరియు ఇతర సభ్యులు.

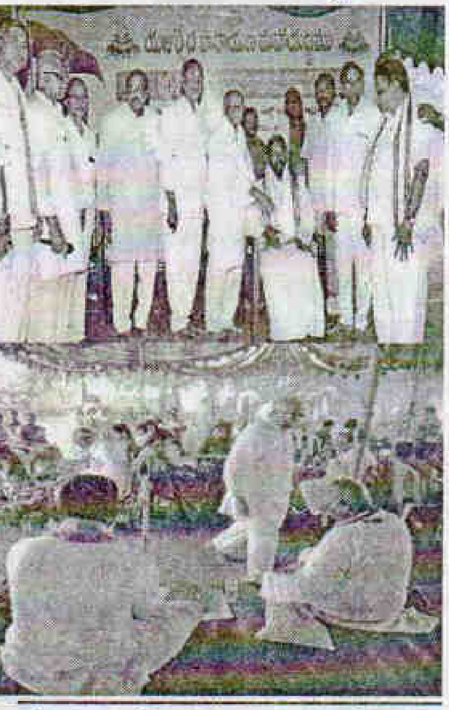

కీ॥ శే॥ భూసాని సత్యనారాయణ నిర్మల్ గారికి

శ్రద్ధాంజలి

కీ॥ శే॥ స్వాతంత్ర్య సమరయోధులు, ఆర్య సమాజ్ నిర్మల్ యొక్క ప్రతిష్ఠమైన అధికారి, కార్యకర్త మరియు గత 70 సంవత్సరాలు నుండి అవిరామంగా పనిచేయుచున్న శ్రీ భూసాని సత్యనారాయణ గారు ఆగస్టు 27న రాత్రి పరమపదించారు. వారి వయస్సు దాదాపుగా 90 సంవత్సరాలు పైన ఉండెను. కీ॥ శే॥ భూసాని సత్యనారాయణ గారికి ఆర్య ప్రతినిధి సభ పక్షాన మరియు యావత్ ఆర్య బంధువుల పక్షాన వినమ్ర శ్రద్ధాంజలి.

१८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम और महर्षि दयानन्द

-सत्यप्रिय शास्त्री, सिद्धान्त शिरोमणि

विदेशी शासकों की और विशेषकर ब्रिटिश गवर्नमेंट की घातक चालों के परिणाम स्वरूप यहाँ की जनता में उस समय राज्य के विरुद्ध सर्वप्रथम जो महान् विस्फोट हुआ वह यही स्वाधीनता का प्रथम संग्राम था, जिसमें भारत के अटक से लेकर कटक तथा कश्मीर से कन्या कुमारी तक के विभिन्न मतवादी निवासियों ने पारस्परिक-सभी मतभेदों को भुलाकर एक सूत्रा में संगठित हो अंग्रेजों के दासत्व के जुवे को अपने कन्धों से उतार फेंकने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।

अंग्रेजों को भारत से उनके घर भेजने की पूर्व निश्चित यह एक योजना थी, जिसको भारत के विभिन्न प्रान्तों के प्रभावशाली व्यक्तियों ने मिलकर तैयार किया था। यह योजना तैयार कर उसे सफलता की ओर ले जाने वालों में ऋषिवर दयानन्द, दण्डी स्वामी विरजानन्द एवं उनके गुरु स्वामी पूर्णानन्द जी भी सम्मिलित थे, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए एक लेखक लिखता है, "विरजानन्द ने अपने प्रज्ञानेत्रों से साक्षत् कर लिया था कि भारत की दुर्दशा के दो प्रधान कारण हैं, एक अनार्ष ग्रन्थ प्रसार तथा दूसरा विदेशी राज्य। आज मुक्त ऐतिहासिक मुक्त कण्ठ से कहते हैं कि विरजानन्द तथा उनके गुरु पूर्णानन्द सरस्वती ने इस संग्राम का आरम्भ कराया था। इसके लिए वे दो हेतु प्रस्तुत करते हैं। संवत् १९१४ वि: १८५७ ई० के स्वातन्त्रय संग्राम में जिन राजाओं ने भाग लिया वे सबके सब विरजानन्द के शिष्य थे, उस समय के राजाओं की जैसी प्रवृत्ति हो रही थी उसको देखते हुये यह कहा जा सकता है कि समर में जूझने की भावना उनकी अपनी न थी, वह किसी दूसरे की प्रेरणा से प्रसूत थी, स्वभावतः ही यह मानना पड़ता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति की थी जिसकी बात टालने का उन्हें साहस न होता था। भारतीय संस्कृति में गुरु ही उच्च पदस्थ एक ऐसा व्यक्ति है कि जिसकी आज्ञा के उल्लंघन करने की कल्पना भी सच्छिष्य में आ ही नहीं सकती। दूसरा प्रमाण वे यह उपस्थित करते हैं कि जिज्ञासु दयानन्द १८५५ ई० में कनखल में विरजानन्द के गुरुदेव स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती की सेवा में विद्या-प्राप्ति के निमित्त पहुँचते हैं। जो उन्हें कहते है कि हम बहुत वृद्ध हो चुके हैं, हम आपका मनोरथ पूर्ण करने में असमर्थ हैं, आप मथुरा जाइये, वहाँ विरजानन्द सरस्वती हमारे योग्य शिष्य रहते हैं, वे आपकी मनः कामना पूर्ण करेंगे। व्यग्र दयानन्द कनखल से सीधे मथुरा नहीं जाते, वे उत्तराखण्ड की ओर चलकर कानपुर तथा नर्मदा के परिसर पहुँचते हैं यह वह क्षेत्रा है जहाँ स्वतन्त्राता-संग्राम का आयोजन किया जा रहा था तो क्या यह समझना उचित न होगा कि वृद्ध पूर्णानन्द ने युवा बलिष्ठ दयानन्द को उस ओर प्रेरा हो। भले ही कुछ लोगों को ये तर्क प्रबल न जँचे किन्तु ये ऐसे दुर्बल वा हीन भी नहीं हैं कि इनकी उपेक्षा की जा सके ("विरजानन्द चरित पृ० ११८-११९ ले० स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती)

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए एक और विख्यात इतिहासकार लिखता है कि-

"अप्रैल १८५५ से जबकि उसका दूसरा समवयस्क (नाना धोंधों पन्तराव) भारत का पेशवा बनने के बाद क्रान्ति-यज्ञ के समारम्भ में दीक्षित होने जा रहा था। मार्च १८५७ तक वह प्रायः गंगा के साथ गंगोत्तरी और बदरीनाथ से बनारस तक गढ़वाल रुहेलखण्ड दोआब और काशी के प्रदेशों में घूमता रहा, जहाँ तब क्रान्ति की तैयारियाँ जनता के भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं। १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर गया, और आगे पांच मास तक कानपुर इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। फिर बनारस, मिर्जापुर चुनार होकर मार्च १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकी थीं और नाना साहब के सैकड़ों संदेशवाहक साधु फकीरों आदि के रूप में पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, देश के

हर कोने में क्रान्ति का संदेश लेकर रवाना हुए और स्वयं नाना साहब और (उनके मन्त्रादाता) अजी मुल्ला खाँ भी क्रान्ति आरम्भ करने की तारीख निश्चित कर उसकी सारी तैयारी अपनी आँखों से देख लेने को तीर्थ यात्रा करने निकले तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिए दक्खिन की ओर निकल पड़ा, अपने आरम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहाँ एकाएक अन्त हो जाता है। आगे तीन वर्ष क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहाँ रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगति उसने कभी नहीं दी। यह कहना तो कठिन है कि क्रान्तियुद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका क्या रुख रहा, और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं, तो भी उसकी जीवन घटनाओं की विधियों का जो संक्षिप्त सा विवरण ऊपर दिया गया हैं, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही सकती है कि क्रान्ति की तैय्यारियों आदि से उसे निकट परिचय करने का अवसर अवश्य मिला। यह बात मान लेना आसान नहीं कि दयानन्द के सदृश भावनाप्रवण और चेतनावान हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा हो और उस युद्ध की सफलता विफलता की उस पर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो, अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह पूरी चुप्पी भी कम अर्थ भरी प्रतीत नहीं होती (द्रष्टव्य- ''हमारा राजस्थान पृ० २६७-६८, पृथ्वी सिंह मेहता विद्यालंकार'')।

''दयानन्द को विरजानन्द के पास पढ़ने की प्रेरणा विरजानन्द के गुरु पूर्णानन्द ने १८५५ में ही दी थी, परन्तु क्रान्ति आंदोलन के शीघ्र छिड़ जाने की सम्भावना के कारण प्रतीत होता है कि उनकी मनःस्थिति तब गम्भीर अध्ययन की ओर न थी, किन्तु उसकी विफलता ने १८६० में वह मनः स्थिति पैदा कर दी। (हमारा राजस्थान पृ० २६०)

कुछ आर्य भाई राजकोट जाने के लिए हमारे साथ बैठे, उनमें एक रेल कर्मचारी हैं, उन्होंने बताया कि १८५७ ई० के समय नाना धुन्धु पन्त को सुरक्षित रहने के लिए मौरवी के सामन्त के नाम ऋषि दयानन्द ने पत्रा देकर भेजा था, सुना है कि वह पत्रा किसी सेठ के पास सुरक्षित रहा (''देखिये:- २६६६५ के आर्योदय साप्ताहिक देहली में श्री जगदेव सिंह सिद्धान्ती सदस्य लोकसभा का 'मेरी दक्षिण भारत यात्रा' नामक लेख (पृ० ८ कालम २)।

इतिहास के नये अनुसंधान

आज के अनुसंधान एवं जागृति के युग में तो सत्यजिज्ञासु जागरूक इतिहासकार सचेत होने लगे हैं, निम्न तथ्य इस बात के मुँह बोलते चित्रा हैं:-

ब्रिटिश सत्ता के उन्मूलन के लिये १८५७ ई० में जो राज्य-क्रान्ति हुई थी उसमें ऋषि दयानन्द ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, इतिहास की इस नवीन स्थापना पर आज यहां गोष्ठी में महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई। लाहौर के वयोवृद्ध पत्राकार तथा समाजसेवी श्री वासुदेव वर्मा ने इस विषय पर अपना निबन्ध पढ़ते हुये अनेक नवीन तथ्यों पर प्रकाश डाला। स्वामी पूर्णानन्द से ब्रिटिश अत्याचारों की हृदयद्रावक कथा सुनकर किस प्रकार ऋषि दयानन्द ने तांत्या टोपे और नाना साहब से निकट सम्पर्क स्थापित किया और किस प्रकार योजनाबद्ध रूप से क्रान्ति के इन नेताओं ने विभिन्न रियासतों तथा आम जनता को संगठित करने का प्रयत्न किया, यह इतिहासकार संघ की इतिहास परिषद् की ओर से आयोजित इस गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुये श्री क्षितीश वेदालंकार ने कुछ नये प्रमाण प्रस्तुत करते हुये इस धारणा को मिथ्या सिद्ध किया कि नाना साहब पेशवा सन् ५७ की राज्यक्रान्ति विफल हो जाने के पश्चात् नेपाल चले गये थे उन्होंने कहा कि नाना साहब पेशवा गुप्तरूप से भावनगर (सौराष्ट्र) के पास सिहोर नामक स्थान में साधु के रूप में रहे, और मौरवी में उनका स्वर्गवास हुआ, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है, नाना साहब पेशवा ने अपनी मृत्यु से पहले स्वयं यह रहस्य जिन लोगों के समक्ष उद्घाटित किया था उनमें से कुछ लोग अभी तक जीवित हैं और उन्हीं से इतिहास के इस नवीन पहलू पर प्रकाश पड़ा है (द्रष्टव्य- ''दैनिक हिन्दुस्तान दिल्ली १२६ ८६६८ का पृ० कालम ३)

“दयाराम (दयानन्द) ने साधु, संन्यासी, तपस्वियों के अन्दर संगठन के लिये कोशिश की थी, देश की बुरी हालत मिटाने के लिये साधुओं को तत्पर होने के लिये कोशिश की थी, उन्होंने सिपाही-विद्रोह आन्दोलन के साथ भी संयोग स्थापन किये थे, मराठी नेता नाना साहब भी महर्षि दयानन्द से विचार विमर्श करने के लिये आये थे- प्रधान-प्रधान सैन्यावास में भी आया जाया करते थे, बैराकपुर सैन्यावास (बंगाल) में भी आये थे, मंगल पाण्डे नामक सैन्य ने उनसे आशीर्वाद मांगा था, (“देखिये- सार्वदेशिक साप्ताहिक दिल्ली के १२६१६६६ के अंक में कलकत्ता के श्री दीनबन्धु जी वेदशास्त्राी का ‘महर्षि की अज्ञात जीवनी’ नामक लेख)।

उपर्युक्त उद्धरणों में महान् लेखकों द्वारा दिये गये तर्क एवं प्रमाण अत्यन्त स्पष्ट तथा इतने सुदृढ़ हैं कि इन्होंने इतिहास के क्षेत्रा में विचारने की नवीन दिशा प्रदान की है। यह एक बुद्धि ग्राह्य तथ्य है कि भारत के इस प्रथम विशाल स्वातन्त्रय संग्राम के आयोजन एवं नेतृत्व में स्वामी पूर्णानन्द, विरजानन्द तथा दयानन्द इन तीनों साधुओं का गहरा हाथ रहा, चाहे वह सशस्त्रा क्रान्ति युक्त न होकर केवल वचनमात्रा ही रहा हो। भारत के ही कुछ देश द्रोही वर्गों द्वारा अंग्रेज शासकों का साथ देने पर जब यह स्वातन्त्रय युद्ध विफल हो गया और इसी क्रान्ति-यज्ञ के आयोजकों एवं सहयोगियों को निर्दयतापूर्वक कुचलते हुये अंग्रेज यहाँ अपना प्रभुत्व जमाने लगे और उस समय इस राष्ट्र की निःसहाय प्रजा इन गौरांगों के अत्याचार की चक्की में पिसती हुई अपने गौरव को विस्मृत कर दीन-हीन हो रही थी, तब दयानन्द भी गुरु की पाठशाला से तैयार होकर भारत के कार्य-क्षेत्रा में आ चुका था, तब उसने अपनी लोह लेखनी द्वारा भारत की प्रसुप्त आत्मा को जगाने का उपक्रम किया। उसकी ओजस्वी वाणी एवं बलिष्ठ लेखनी मुर्दो की धमनियों में मदमदाते रक्त का संचार कर देती थी। भारत जनमन में उस काल के पश्चात् जो कुछ भी राजनैतिक चेतना आई वह ऋषि दयानन्द की लेखनी तथा वाणी का ही प्रभाव था, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए इतिहासकार लिखता है-

“दयानन्द का जन्म मौरवी रियासत के टंकारा नामक गाँव में समृद्ध ब्राह्मण गृहपति करसन जी के यहाँ सन् १८२४ ई० में हुआ था, यों भारत की स्वाधीनता के लिये मर मिटने और फिर से राष्ट्रीयता जगाने वाले ये दोनों महापुरुष समसामयिक और समवयस्क भी थे, इनमें से जब एक (नाना धोंधोंपन्त राव पेशवा) शस्त्रा का आश्रय लेकर राष्ट्र की स्वाधीनता की ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिये अपना सर्वस्व होमकर भी असफल रहा, तब दूसरे (दयानन्द) ने उसके स्फुलिंगों को एक प्रकार से फिर से जगाने की विधि निकालने के लिये शास्त्रा का आश्रय ग्रहण किया। (हमारा राजस्थान पृ० २६६)

“१८७३ से १८८१ तक दयानन्द उत्तर भारत के अनेक नगरों में घूमता और अपने विचारों का प्रचार करता रहा, जिसके कारण भातवासियों में अपने प्राचीन इतिहास और धर्म का गौरव फिर से जागने लगा। १८७३ ई० से भारत में राजनीतिक पुनर्जागरण के लक्षण भी प्रायः सर्वत्रा प्रकट होने लगे” (हमारा राजस्थान पृ० २७०) इसी ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि करता हुआ एक और इतिहासकार लिखता हैः-

“सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् के उन महापुरुषों की सूची में जिन्हें हम उस क्रान्ति के मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तराधिकारी कह सकते हैं पहला नाम महर्षि दयानन्द सरस्वती का है।”

(“भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास पृ० २२ ले० पं इन्द्र विद्यावाचस्पति)।

‘राजनीति में स्वामी दयानन्द को नवीन राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहें तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा और स्वदेश के पक्ष में जो स्पष्ट विचार प्रकट किये थे, वह भारत की राजनीति में १६०१ से पहले व्यक्त रूप में नहीं आये थे, व्यावहारिक रूप में उनका प्रयोग तो बंगविच्छेद के पश्चात् ही हुआ।” (भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास पृ० २४)

एक अन्य महान् लेखक के कथन से भी इस सत्य की

पुष्टि हो रही है:-

"इस देश में अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने के बाद वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने देशवासियों के हृदय में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के दीपक को बुझते-बुझते बचाया। (राष्ट्रवादी दयानन्द पृ० ३२ -श्री सत्यदेव विद्यालंकार)

महर्षि दयानन्द के जिन असाधारण विचारों से भारत (लेखन द्वारा जागरण) के राजनीतिक वातावरण में अपूर्व हलचल उत्पन्न हुई अब उनमें से स्थाली पुलाक न्याय से कुछ स्थल उपस्थित किये जा रहे हैं।

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। (सत्यार्थप्रकाश ८ समुल्लास) इसी प्रकार आगे चलकर भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए दुःखित हृदय से ऋषिवर लिखते हैं:- विदेशियों के आर्यावर्त में राजा होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना, पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयम्बर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचारादि कर्म हैं, जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। सत्यार्थप्रकाश समु० १०।

आगे महर्षि १८५७ के स्वाधीनता संग्राम का आँखों देखा दुःखद प्रसंग वर्ण करते हुये लिखते हैं:-

"जब सम्वत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहां गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्राुओं को मारा परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी, जो श्री कृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते (सत्यार्थप्रकाश समु० ११) ब्राह्म समाजियों की समालोचना के प्रसंग में अंग्रेजों से भारतीयों को शिक्षा देते हुये कहते हैं:-

"देखो? अपने देश के बने हुये जूतों को अहफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं, इतने में ही समझ लो कि अपने देश के बने हुये जूतों का भी कितना-मान-प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। (सत्यार्थप्रकाश समु० ११)

पाठक ! सोचें कि ऋषि दयानन्द का स्वाभिमानी हृदय अपने देश के जूते के अपमान को भी न सह सका, सोचिये क्या वह भारत की दासता को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिये सदा अधीर न रहता होगा? इसी प्रसंग में आगे चलकर महर्षि ब्राह्म समाजियों की अंग्रेज भक्ति की अधिकता तथा राष्ट्र प्रेम की न्यूनता पर फटकारते हुए कठोर शब्दों में भर्त्सना करते और लिखते हैं:-

"इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं, अपने देश की प्रशंसा वा पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले भरपेट निन्दा करते हैं, व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते, ब्रह्मा से लेकर आर्यावर्त में बहुत से विद्वान् हो गये हैं, उनकी प्रशंसा न करके यूरोपियन की ही स्तुति में उतर पड़ना पक्षपात और खुशामद के बिना क्या कहा जाये?" (सत्यार्थप्रकाश समु० ११)

सोचिये उस समय ऐसे स्पष्ट शब्दों में विदेशी राज्य की समालोचना करना उस साहस के पुतले भारत माता के सच्चे सपूत दयानन्द के अतिरिक्त और किसका काम था? उस ऋषि ने ही सर्वप्रथम उस काल में सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य के रूप में आर्यों के प्राचीन गौरव का वर्णन कर भारतीयों के हृदयों को स्वतन्त्राता की ओर उभारा था सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में आर्य राजाओं की नामावली देकर आर्यों को अपने विश्व-विख्यात गौरव की झलक दिखाई थी। महर्षि अपने वेदभाष्य में लिखते हैं:-

"'क्षत्राय पिन्वस्व' हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये

शौर्य धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तमगुण युक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर, अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। यजु० ३८६१४

ऋषि दयानन्द ने अपने देश के लिये अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना करते हुये जो आदेश दिया वह निम्न प्रकार से हैः "मनुष्यैर्द्वाभ्याम् प्रयोजनाभ्यां प्रवर्तितव्यम् एकमत्यन्तपुरुषार्थ शरीरारोग्याभ्यां, चक्रवर्ती राज्य श्री प्राप्ति करणम्, द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्रा प्रचारी करणम्" इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने सामने सदा दो प्रयोजन रखकर उनकी पूर्ति के लिये अपना सब व्यवहार करना चाहिये, पहला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके और शरीर को स्वस्थ रखकर वह चक्रवर्ती राज्य रूपी श्री का सम्पादन करे, और दूसरा यह कि वह सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़कर सब जगह उनका प्रचार करे।

इसी प्रकार स्तुति प्रार्थनोपासना की पुस्तक आर्याभिविनय में भी महर्षि परमेश्वर से प्रार्थना करते हुये कहते हैं:- "हे ? न्यायकारिन्? जो कोई हम धार्मिकों से शत्राुता करता है, उसको आप भस्मीभूत करें, और विद्या शौर्य, धैर्य, बल पराक्रम, चातुर्य, विविध धन, ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति तथा स्वदेश सुखसम्पादन आदि गुणों से युक्त करके हमको सब देहधारियों में उत्तम बनायें और सबसे अधिक आनन्दभोग करने, सब देशों में इच्छानुकूल विचरने, और आरोग्य,, (देह, शुद्ध मानसबल, तथा विज्ञान आदि प्राप्ति के लिये हमको सब विद्वानों के मध्य प्रतिष्ठायुक्त करें। आर्याभिविनय १६१६)

"हे महाधनेश्वर ! हमारे शत्राुओं के बल पराक्रम को (आप) सर्वथा नष्ट करें, आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि प्राप्ति हो।" १-४३

इस प्रकार इस पुस्तक में स्थान स्थान पर परमात्मा की प्रार्थना राजा, साम्राज्य प्रसारक, राज्य विधायक, सम्राट् तथा महाराजाधिराजेश्वर आदि उत्कृष्ट राष्ट्रीय सम्बोधनों से की गई है, यही कारण है कि आर्याभिविनय को वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थनाओं की पुस्तकों में बहुत ऊँचा स्थान मिल गया है। प्राचीन भारतीय-संस्कृति का वह गौरव जिसके कारण भारत विश्व का पथ-प्रदर्शन एवं नेतृत्व करता था उसी विस्मृत गौरव को महर्षि जनता के हृदय में जागृत करना चाहते थे, वे अपने देश को दासत्व की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ क्षण भर भी देखना पसन्द न करते थे।

उस समय महर्षि ने अंग्रेजी राज्य का सहयोग न देने पर भी बल देकर असहयोग आंदोलन का बीज बोया था-जबकि अपनी मृत्यु से पूर्व परोपकारिणी सभा के स्वीकारनामें में महर्षि ने यह लिखा- जहाँ तक हो सके न्याय प्राप्ति के लिए सरकारी अदालत का दरवाजा न खटखटाया जाये। प्रश्न यह होता है कि-

महर्षि ने अंग्रेजी अदालतों पर अविश्वास क्यों किया? उन्हीं के शब्दों में सुनियेः-

"अनुमान होता है इसीलिए ईसाई लोग ईसाइयों का बहुत पक्षपात कर किसी गोरे ने काले को मार दिया हो तो भी बहुधा पक्षपात से निरपराधी कर छोड़ देते हैं। "सत्यार्थप्रकाश १३६७७ परन्तु अपने आरम्भिक काल में कांग्रेस के सभी नेता अंग्रेजी न्यायालयों की न्यायप्रियता का ढिंढ़ोरा पीटते नहीं थकते थे। यहां तक कि लोकमान्य तिलक जैसे प्रखर राष्ट्रभक्त भी किसी अंश में उन्हीं से सहमत थे। जब लोकमान्य तिलक ने सन् १६१६ तथा २० में मि० शिरोल पर एक पुस्तक में अपने प्रति लिखे गए अपमानजनक शब्दों के आधार पर मानहानि का अभियोग इंग्लैण्ड में चलाया तब मि० शिरोल को दोषी होते हुये भी साफ बचा दिया गया था। तब उन राजनैतिकों ने आश्चर्य भरी नजरों से अंग्रेजी अदालतों के जातीय पक्षपात को देखा और तब उनके प्रति अपने अविश्वास को व्यक्त करना आरम्भ किया। परन्तु महर्षि ने उसे ४० वर्ष पूर्व ही प्रकट कर दिया था।

अंग्रेज शासकों की इसी पक्षपात पूर्ण रीति-नीति पर रोदन करते हुये महर्षि दयानन्द

अपने साहित्य में परमेश्वर से प्रार्थना करते हुये लिखते हैं- हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हैं। हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे। (सत्यार्थप्रकाश ६ समु०)

उस समय अंग्रेजी सरकार की ओर से भारतीय जनता पर कठोर प्रतिबंध लगे हुये थे। महर्षि ने १८७५ ई० के सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में उनकी कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हुये लिखाः-

"एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है मुझको अच्छा मालूम नहीं होता क्योंकि नोन बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं किन्तु सबको नोन आवश्यक होता है और वे मेहनत मजदूरी से जैसे तैसे निर्वाह करते हैं उनके ऊपर भी यह नोन का (कर) दण्ड तुल्य रहता है। इससे दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है। अतः कर (टैक्स) लवणादिकों के ऊपर न चाहिये। पौन रोटी से भी गरीबों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले जाये वा लकड़ी का भार (तो) उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से उनको अवश्य क्लेश होता होगा, इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना है सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं।" (सत्यार्थप्रकाश ३८४६८५)

"सरकार कागद को बेचती है और बहुत सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है, इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है, सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से बहुत गरीब लोग दुःख पाके बैठे रहते हैं, कचहरी में बिना धन के कुछ बात होती नहीं, इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगाया है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता।" (सत्यार्थप्रकाश पृ० ३८७)

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी ने जिस नमक कानून के विरुद्धप सन् १९३० में सत्याग्रह द्वारा आवाज उठाई थी, महर्षि दयानन्द ने अपने उक्त लेख के द्वारा इस विषय में उनसे ५५ वर्ष पहले ही अंग्रेज सरकार को दुत्कारा था।

इसके साथ-साथ यह एक विचारणीय विषय है कि महर्षि ने अपने जीवन काल में जो आर्य समाजें स्थापित की थीं वे सभी ऐसे स्थान थे जो उस समय अंग्रेज सरकार की सेना के मुख्य आवास स्थल थे। उदाहरणार्थ बम्बई, मेरठ, सहारनपुर, लाहौर इत्यादि। तो क्या एक सत्यान्वेषी इतिहासकार के लिये यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि क्रान्ति का यह बीज यदि अंग्रेजी सेना में प्रविष्ट उन भावुक हृदय भारतीय सिपाहियों के निकट डाला जाये तो वह शीघ्र ही उगकर मनोवांछित फल लाने में उपयुक्त सिद्ध होगा?

इसी के साथ महर्षि दयानन्द का गौ रक्षा का नारा बुलन्द करना भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसी प्रश्न को प्रमुखता देकर १८५७ के काल में मंगल पाण्डे, तांत्या टोपे, नाना साहब पेशवा, रानी लक्ष्मी, वीर कुंवर सिंह इत्यादि के द्वारा अंग्रेज की छाती पर दागी गई गोलियों की सनसनाहट अभी विलीन भी न होने पाई थी कि सिक्खों के एक सम्प्रदाय नामधारियों के गुरु बाबा रामसिंह जी के नेतृत्व में लगभग दो सौ कूका वीरों ने गौ रक्षा के प्रश्न पर अंग्रेज सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, फलस्वरूप उन्हें फांसी, कालेपानी तथा तोप के मुँह से बांध कर उड़ाने का दण्ड दिया गया और इस प्रकार गौ रक्षा का नारा अंग्रेज सरकार के विद्रोह का पर्याय बन गया था। ऐसे भयंकर समय में ऋषि दयानन्द ने न केवल गौ रक्षा के हक में आवाज उठाई बल्कि गौ हत्या का सारा उत्तरदायित्व उस विदेशी सरकार पर डालकर उसे रुकवाने के लिये हस्ताक्षर का अभियान शुरू करके देश की जनता में संगठन एवं जागृति का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। किम्वदन्ति तो यहां तक है कि उस काल में जब एक अंग्रेज अधिकारी कार्यनिवृत्त होकर इंग्लैण्ड जाने लगा, तब उसकी विदाई सभा में महर्षि ने बोलते हुये कहा था कि तुम वहाँ जाकर महारानी से भारत गौ रक्षा का कानून बनवाने का प्रयत्न करना, अर्थात् इस प्रश्न को लेकर भारत में फिर क्रान्ति हो सकती

है जिसका सारा उत्तरदायित्व सरकार पर ही होगा, किन्तु उस समय महर्षि दयानन्द की इस आवाज़ ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के क्षेत्रा में एक नई दिशा तथा जोशपूर्ण वातावरण का निर्माण किया था, इस तथ्य से कोई निष्पक्ष इतिहासकार इन्कार नहीं कर सकता। महर्षि के हृदय में राष्ट्रीयता, वैदिक संस्कृति तथा स्वदेशाभिमान की जड़ें इतनी गहरी थीं कि उन्होंने कभी भी भारत में अंग्रेजी राज्य को ईश्वर की देन मानकर उसकी प्रशंसा के गीत नहीं गाये, जबकि कांग्रेस के मंच से अनेक नेता और मदनमोहन मालवीय भी अंग्रेजी राज्य को ईश्वरीय देन मानकर उसके यावच्चन्द्र दिवाकरौ बने रहने की सदभिलाषा प्रकट करते रहे। महर्षि ने उस रूप में विदेशी राज्य के सहारे कोई योजना पूर्ण करने की आतुरता नहीं दिखाई जिस प्रबलरूप में राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सरीखों ने अपने सुधारकार्य का प्रमुख आश्रय सरकारी कानूनों को बनाया। अपने समय के राष्ट्रगुरु लोकमान्य जी भी वैदिक साहित्य और उसकी प्राचीनता के समबन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के रंग में रंगे हुये थे। 'गीता रहस्य' सर्वथा मौलिक होते हुये भी पाश्चात्य विचारों से सर्वथा मुक्त नहीं है। जब कांग्रेस में पाश्चात्य वेशभूषा अपनाने की होड़ सी लगी हुई थी तब कांग्रेस के जन्म से भी पूर्व महर्षि दयानन्द स्वदेशी वस्त्रों का ही प्रयोग करते थे, स्वामी जी के जो वस्त्रा आज तक संभालकर अजमेर में रखे हुये हैं, वे सब विशुद्ध स्वदेशी खादी के ही हैं।

अतः महर्षि दयानन्द ने उस राष्ट्रीयता को जो कि स्वातन्त्रय संग्राम की विफलता पर अंग्रेजों के अत्याचार एवं दमन से रौंदी जाती हुई भारत की निःसहाय प्रजा द्वारा, शासन के पाशविक आतंक से जुबां पर नहीं लाई जा सकती थी, अपने साहसिक तथा विशुद्ध राष्ट्रीय विचारों के प्रचार से जागृत एवं अभिव्यक्त करने का अद्भुत प्रयास किया। उसी के परिणामस्वरूप तब से जनता में राष्ट्रीयता का श्वास तीव्ररूप में चलने लगा था। जनता ने समझा कि अब हमारा भी अपने देश में उत्पन्न कोई मार्गदर्शक तथा सुध लेने वाला आ पहुँचा है। भारतीय जनता में उठती हुई इस राजनीतिक चेतना को कुटिलमति अंग्रेज सहन न कर सके। उसी के परिणामस्वरूप महर्षि दयानन्द को ब्रिटिश साम्राज्य की कूटनीति का शिकार होकर राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने जीवन की भेंट चढ़ानी पड़ी, सो कैसे यह एक प्रत्यक्षदर्शी के शब्दों में ही सुनिये -

महर्षि के मृत्यु का रहस्य

श्री डी०पी० जौहरी गर्मी के दिनों में जोधपुर गये, वे पानी की तलाश में एक तालाब के किनारे पहुँचे, और वहां उन्होंने ७० वर्ष के एक वृद्ध आर्यसमाजी को संध्या करते देखा जब उन्होंने संध्या समाप्त की तो श्री जौहरी ने उनसे स्वामी की मृत्यु के सम्बन्ध में बातचीत आरम्भ की जौहरी जी के प्रश्न का उत्तर देने से पहले वृद्ध महाशय ने उनसे यह शपथ ले ली कि उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जायेगा यह शपथ लेकर जो कहानी वृद्ध महाशय ने जौहरी जी को सुनाई उसका संक्षेप यह है कि जिन दिनों महर्षि जोधपुर में थे, अंग्रेजी सरकार की ओर से' रियासत के एक अत्यन्त आवश्यक अन्तरंग विषय पर चिट्ठी प्राप्त हुई जिसका उत्तर शीघ्र मांगा गया था रियासत की कौंसिल अभी उस पर विचार कर ही रही थी कि महाराजा ने उस चिटठी की चर्चा महर्षि से कर दी। महर्षि ने जो सलाह दी महाराजा ने उसके अनुसार ही उत्तर भेजा। उत्तर ऐसा चतुरतापूर्ण था कि उससे इण्डिया अहफिस चकित हो उठा। वहाँ से रेजिडेण्ट को लिखा गया कि जिस दरबार में इस पत्रा पर चर्चा हुई उसकी तस्वीर भेजी जाये, जिससे पता लग सके यह उत्तर किसके दिमाग की उपज है। उस चित्रा से भी जब इण्डिया अहफिस की जिज्ञासा शान्त न हुई तो महाराज से सीधा पूछा गया, और महाराज ने सरलता से स्वामी जी का नाम लिख भेजा। विलायत से जनरल को यह भर्त्सना की गई कि स्वामी दयानन्द जैसे राजद्रोही को प्रचार करने के लिये खुला क्यों छोड़ा

गया? यह वृत्तान्त सुनाकर वृद्ध महाशय ने कहा कि इस घटना की रोशनी में यह समझना कठिन नहीं कि स्वामी जी को विष दिलाने वाले कौन थे? और सरकारी डाक्टरों ने उनका ठीक इलाज क्यों नहीं किया? (आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग पृ० ३२१६२२ ले० श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति)।

महर्षि को विष देने के षडयंत्रा में कौन-कौन सी शक्तियाँ सम्मिलित थीं इस प्रश्न का उत्तर देने में भी बहुत कुछ कल्पना से काम लेना पड़ेगा। दोनों ही बातें सत्य हैं। नन्हीं जान वेश्या स्वामी जी से रुष्ट हो गई थी, इसमें कोई संदेह नहीं और यह भी असंदिग्ध है कि अंग्रेजी सरकार राजस्थान में स्वामी जी के बढ़ते हुये प्रभाव से बहुत ही असन्तुष्ट थी। यह सर्वथा सम्भव है कि उस समय दोनों विरोधी शक्तियाँ मिल गई हों? सरकारी डाक्टरों द्वारा महर्षि के रोग की उपेक्षा केवल नन्हीं जान की प्रेरणा से नहीं हो सकती थी। यह सन्देह निर्मूल नहीं प्रतीत होता कि महर्षि की मृत्यु के पीछे केवल एक वेश्या का हाथ नहीं-कोई जबरदस्त हाथ था जो पर्दे के पीछे से इशारा दे रहा था।''

(आर्य समाज का इतिहास प्रथम भाग पृ० ३२३६२४ -पं इन्द्र विद्यावाचस्पति।)

पूर्व उद्धरणों पर गम्भीर विवेचन करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचना कठिन एवं निःसार नहीं है कि अपने समय का ख्यातनामा सुधारक जिससे कि विदेशी भी अपरिचित न हों वह सबके देखते देखते एक सामान्य वेश्या के द्वारा विष दिलाकर मारा जाये और जबकि वह उस राजा का राजकीय अतिथि होने के साथ-साथ गुरु भी हो, जिसकी नागरिक वह वेश्या थी, और इसके साथ ही वह राजा महर्षि को बचाने में प्राणपण से प्रयत्नशील हो, यह सब कुछ गोरख धन्धा किसी सामान्य षड्चन्त्रा का परिणाम नहीं है। जब तक महर्षि का उपचार प्राइवेट डाक्टरों द्वारा होता रहा तब तक उनकी दशा सुधरती गई, परन्तु, जब सरकारी डाक्टर अली मर्दान खां का इलाज प्रारम्भ हुआ तभी से महर्षि की दशा बिगड़ती गई और अन्त में वे मृत्यु का ग्रास बन गये, क्योंकि उस डाक्टर की पीठ पर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का हाथ था। इसके साथ डाक्टर महोदय स्वयं मुसलमान होने के कारण मन ही मन महर्षि से खीझे हुये थे, क्योंकि महर्षि ने ही सर्वप्रथम कुरान के थोथे सिद्धान्तों पर तर्कपूर्ण कठोर समालोचना का कुठाराघात किया था।

अतः सरकार का आशीर्वाद प्राप्त कर उस धर्मांध यवन डाक्टर ने महर्षि को ६० ग्रेन के विशाल परिमाण में वह तीव्र विष जिसका कि बलिष्ठ मनुष्य की मृत्यु के लिये १० ग्रेन का परिमाण पर्याप्त होता है। आज यदि वैसा ही प्रभावशाली व्यक्ति वैसी ही संदिग्ध परिस्थितियों में मृत्यु का शिकार हो जाये तो बुद्धिमान् तथा मानवताप्रेमी सरकार कम से कम जनता की दृष्टि में अपनी स्थिति के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से ही क्यों न हो परन्तु उस विषय की अवश्यमेव छानबीन करना अपना नैतिक कर्तव्य समझेगी। परन्तु ऋषि दयानन्द जैसे जगद्विख्यात सुधारक की विषदान से मृत्यु हो जाती है, विषदाता का भी पता लग जाता है, परन्तु अंग्रेजी सरकार की ओर से इस दुखद काण्ड के आयोजाकों की खोज अथवा उन्हें दण्ड प्रदान का नाममात्रा भी प्रयत्न नहीं किया जाता, यह था अंग्रेजी सरकार के न्याय का नमूना? तो क्या सरकार की यह चुप्पी बुद्धिमानों की दृष्टि में इस काण्ड में उसके हिस्सेदार होने की घोषणा नहीं कर रही? यहाँ तक ही नहीं प्रत्युत् वह राजा जो महर्षि का प्रिय शिष्य था, जिसके निमन्त्राण पर महर्षि जोधपुर पधारे थे इस अनर्थकारी एवं संदिग्ध प्रसंग की आलोचना करने में एक शब्द भी मुँह से निकालने तक की हिम्मत नहीं कर पाता। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता हैं कि उस राजा को यह भलीभाँति निश्चय हो चुका था कि सारा का सारा नाटक अंग्रेज सरकार की ओर से खेला जा रहा, नन्हीं जान का तो केवल मात्रा एक बहाना था अथवा अपने इस कुकृत्य को छिपाने का साधन घड़ा जा रहा था क्योंकि राजा को यह भय था कि यदि तुमने (जोधपुर

नरेश ने) इस विषय में कोई न्यायपूर्ण कदम उठाने का दु:साहस किया तो अंग्रेजों की कूटनीति के शिकार होने से किसी भी दशा में बच न पाओगे।

इस सम्पूर्ण विवेचन का तत्त्व यह निकला कि ब्रिटिश राज्य ने ही किसी को अपनी कटपुतली बनाकर विषदान के द्वारा महर्षि दयानन्द के प्राणों का हरण कर अपना राजनीतिक मार्ग निष्कण्टक बनाया था। महर्षि के बलिदान से बहुत समय पूर्व ही एक फकीर के नेतृत्व में बंगाल प्रान्त में चौदह हजार साधुओ ने अंग्रेजी सेना को अपने चिमटों तथा त्रिशूलों के बल पर एक कड़ी पराजय दी थी। साधु का वह भयंकर राष्ट्रवादी स्वरूप भी अंग्रेजों की आँखों के आगे सदैव तैरता ही रहता था। इस कारण भी अंग्रेजी सरकार प्रत्येक भारतीय साधु को सशंक नेत्रों से ही देखती थी तथा उन्हें यथासम्भव प्रत्येक उपाय से दबाने का प्रयत्न करती थी।

इतिहास के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् स्व० श्री पं० भगवद्दत्त जी बी०ए० रिसर्चस्कालर ने इस सम्बन्ध में जो खोज की, वह उन्होंने लेखक को स्वयं बताई थी, जो इस प्रकार है-

१. पं० भागराम जी अजमेर निवासी ने जो कि अंग्रेजी सरकार की ओर से महर्षि के ऊपर विशेष गुप्तचर छोड़े गये थे, बताया कि लन्दन के इण्डिया अहफिस में महर्षि के समकालीन गवर्नरों के पत्राव्यवहारों के जो रिकार्ड सुरक्षित हैं, यदि वे खोज कर पढ़े जायें तो महर्षि की मृत्यु सम्बन्धी घटना की यथार्थता सामने आ सकती है।

२. श्री फिरोजचन्द्र जी एम०ए० ने जो वर्तमान कंग्रेस सरकार की ओर से भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास लिख रहे हैं, बताया कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रसंग में महर्षि दयानन्द का स्थान-स्थान पर अत्यधिक ही वर्णन उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण तर्कवितर्क पर ठण्डे एवं निष्पक्ष मस्तिष्क से विचारने के पश्चात् हमारे विज्ञ पाठक निश्चय ही इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे कि महर्षि ने १८५७ के पश्चात् भारत के नागरिकों के प्रसुप्त अन्त:करणों में जो अपूर्व राजनीतिक जागृति उत्पन्न की, उनसे यहाँ राष्ट्र प्रेम दिन दूना और रात चौगुना बढ़ना शुरू हुआ। इस निरन्तर बढ़ती हुई चेतना के भय से उस समय के अंग्रेजी राज्य ने एक भयंकर तथा कुटिल षडयन्त्रा रचकर इन उठती हुई राजनीतिक ज्वालाओं को बुझाने का एक अत्यन्त ही दूरदर्शितापूर्ण किन्तु जघन्य कार्य किया जो कि महर्षि की मृत्यु के रूप में था, उनका कुकृत्य इतिहास में सदा के लिये तथाकथित न्यायप्रिय अंग्रेज जाति के माथे पर अमिट कलंक के रूप में विद्यमान रहेगा।

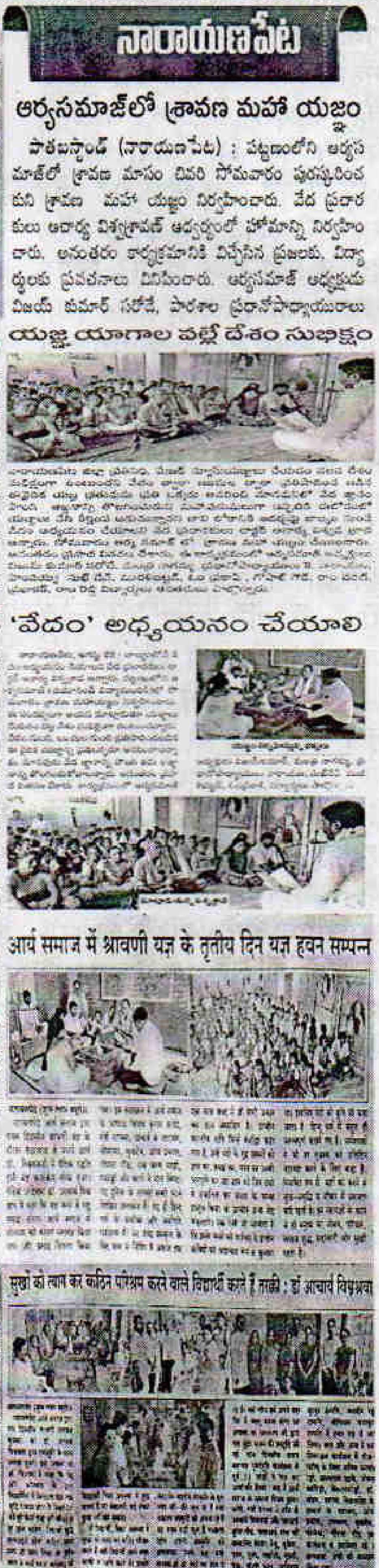
నారాయణపేట

ఆర్యసమాజ్‌లో శ్రావణ మహా యజ్ఞం

యజ్ఞ యాగాల వల్లే దేశం సుభిక్షం

'వేదం' అధ్యయనం చేయాలి

आर्य समाज में श्रावणी यज्ञ के तृतीय दिन यज्ञ हवन सम्पन्न

सुखों का त्याग कर कठिन परिश्रम करने वाले विद्यार्थी करते हैं तरक्की : डॉ आचार्य विश्वश्रवा

१८५७ की क्रान्ति में यह 'साधु' कौन था?

–आचार्य दीपंकर,
सुप्रसिद्ध साम्यवादी चिंतक एवं लेखक

जो भी कोई भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के सम्बंध में कुछ जानकारी रखता है, वह इतना अवश्य जानता है कि इसका श्रीगणेश १८५७ में हुआ था। प्रत्येक देशवासी यह भी जानता है कि जनक्रान्ति से सूत्राधार मंगल पाण्डे, नाना, झांसी की रानी, तांत्या टोपे तथा मराठा नरेश जसवन्त राव होल्कर एवं बहादुर शाह जफर दिल्ली सम्राट् थे। इनमें सर्वाधिक नीति निपुण तथा प्रभावशाली संगठनकर्ता अजीमुल्ला के नाम से सब परिचित हैं। इनके सम्बंध में इतिहासकारों ने अध्यायों पर अध्याय लिखे हैं तथा सैंकड़ों पुस्तकें एवं लेखमालाएँ उपलब्ध हैं। ये सभी लोग हमारे लिए प्रातः स्मरणीय हैं। इनके आत्मत्याग तथा बलिदानों ने दो सौ वर्षों तक स्वतन्त्रता सेनानियों को प्रेरणा दी है। इनके नाम और काम भविष्य में भी लोगों को प्रभावित करते रहेंगे। आने वाले लेखक भी इनका जितना अधिक गुणगान करेंगे, कम ही होगा।

परन्तु वह 'साधु' या संन्यासी कौन था जिसका उल्लेख उस समय के सरकारी अभिलेखों तथा पत्रावलियों में बार-बार मिलता है। यह भी कहा गया है कि जिस समय मंगल पाण्डे के साथ बैरकपुर में हमारे शत्रु अत्याचार ढा रहे थे, उस समय एक भी सिपाही उसके पक्ष में मैदान में नहीं उतरा जब कि सभी लोग उसके राजनीतिक उद्देश्यों से सहमत थे। फिर भी यदि वे मूकदर्शक बने रहे तो इसका मूल कारण उनकी कायरता नहीं थी। वे यह सोच कर मौन साधे रहे कि क्रान्ति की तिथि पहले से ही ३१ मई १८५७ घोषित है। वे यह सोच कर मौन रह गये कि इससे पहले हथियार उठा लेने का अर्थ क्रान्ति को विफल कर देना होगा। परन्तु ऐसी ही परिस्थितियां जब मेरठ में उपस्थित हुईं तो ३१ मई का नाम लेकर सिपाही और जनता हाथ पर हाथ रख कर बैठे नहीं रहे। यह किसकी प्रेरणा और सलाह थी जिसने उन्हें तत्काल हथियार उठाने की सलाह दी। सरकारी विवरण यह दर्शाते हैं कि एक संन्यासी हर समय बैरकों का चक्कर काटता रहता था, सिपाहियों को भड़काता था और जब उसे काली पल्टन से दूर भगा दिया गया तो वह थोड़े फासले पर खड़ा होकर उत्तेजनात्मक भाषण देता रहा। सरकारी विवरणों से यह भी प्रकट होता है कि उसका सैनिकों पर बड़ा व्यापक प्रभाव था। इसके अलावा, यह बताया गया है कि उस साधु का मेरठ के साधारण नागरिकों तथा ग्रामवासियों पर भी बड़ा प्रभाव था। इसके अलावा, सैंकड़ों की संख्या में साधु उसके सम्पर्क में थे तथा वे गांव-गांव में फैले हुए थे। उस समय ये लोग धर्म प्रचार का काम करते थे। धर्म की रक्षा और □िस्तानों से धर्म व देश की रक्षा करने के काम में अधिक रुचि लेते थे।

जिस तरह मेरठ का इतिहास समझे बिना और उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन न करके जिनके मध्य से मेरठ के लोग गुजर रहे थे, भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का सही-सही मूल्यांकन कर पाना कठिन है उसी प्रकार, इस साधु की वास्तविकता समझे बिना मेरठ की जनक्रान्ति की सही-सही समीक्षा करना उचित नहीं है।

यह साधु निश्चय ही रहस्यपूर्ण है तथा असाधारण व्यक्तित्व का है। वह सैनिकों को इतनी गहराइयों में जाकर प्रभावित कर सकता था कि वे ३१ मई को जो कार्य होना चाहिए था उसे १० मई में ही करने पर उद्यत हो गये। बाद के इतिहास ने यह भी सत्य प्रमाणित कर दिया है कि १० मई को जनक्रान्ति न हो पाती और मेरठ वाले भी बैरकपुर वालों की भांति मूकदर्शक बने रह जाते तो जनक्रान्ति का असामयिक गर्भपात सुनिश्चित था। ३१ मई तक तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती कि सभी सैनिकों के हथियार रखवा लिये जाते और सारी योजनाएँ

शेखचिल्ली की कल्पनाएँ बन कर रह जातीं।

अतः इस संन्यासी की ढूंढ़ तलाश करना प्रत्येक सेनानी का पवित्रा कर्त्तव्य हो जाता है ताकि उसे हम मरणोपरान्त ही सही, क्रान्ति नेता के रूप में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें।

यहां काली पल्टन में आज भी बाबा औघड़नाथ का मन्दिर विद्यमान है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जैसे काशी के ऐतिहासिक शिव मन्दिर को आज भी लोग श्रद्धा एवं आत्मीयता के कारण बाबा विश्वनाथ का मन्दिर कह कर पुकारते हैं, उसी तरह यहां के शिव मन्दिर का नाम बाबा औघड़नाथ का मन्दिर पड़ गया हो। परन्तु एक संभावना दूसरी भी है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस संन्यासी ने स्वयं ही अपना छद्मनाम बाबा औघड़नाथ रख लिया हो और हजारों सैनिक जो प्रतिदिन उसके हाथों से शीतल जल पीते थे, उसे ही बाबा औघड़नाथ कह कर पुकारने लगे हों। इसमें तो कोई मतभेद हो ही नहीं सकता कि बाबा बहुत लोकप्रिय एवं प्रभावशाली संन्यासी था। इसकी ओर से इतिहासकारों का ध्यान हटाने के लिए संभव है यह मनघड़त कहानी अंग्रेजों ने ही प्रचारित की हो कि ६ मई को शाम के समय जब सैनिक सदर बाजार और बम्बई बाजार में सामान खरीदने आये तो दुकानदारों ने उन्हें तिरस्कार के साथ देखा तथा घरों से निकल-निकल कर महिलाओं ने सिपाहियों को अपनी चूड़ियां पहनाते हुए धिक्कारा कि उनके साथियों को जेल भेज दिया गया है तथा वे खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे। स्त्रायों ने कहा कि 'वे चूड़ियां पहन कर घरों में बैठें तथा अपनी बन्दूकें उन्हें दे दें।' अंग्रेज इतिहासकारों ने इन कहानियों से मेरठ के स्वाधीनता संग्राम को आकस्मिक घटना मात्रा सिद्ध करने के लिए ही इस प्रकार की घटनाएँ बहुप्रचारित की होंगी।

परन्तु यदि इन्हें सत्य भी मान लिया जाये तब भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि वह कौन नेता और संगठन था जिसने केवल आठ घंटा पहले (बैरकपुर कलकत्ता में) हुए कोर्ट मार्शल के फैसलों से पूरे महानगरों और जनपद में अति दूर-दूर तक जनता को अवगत करा दिया था। इसलिए कि कोर्ट मार्शल की कार्यवाही तो केवल छावनी तक सीमित थी। फिर कोर्ट मार्शल खुली अदालत की कर्यवाही के रूप में भी सम्पन्न नहीं हुआ था, तो इस प्रचार के पीछे अवश्य ही कोई अति तीव्रगामी या त्वरित गति का संगठन होना चाहिए।

अतः चाहे जिस दृष्टिकोण एवं बिन्दु से विचार किया जाये, उस संन्यासी की खोज करना तो हमारे लिए सबसे पहला काम हो जाता है, जिसके बिना भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की रणभेरी का बजना ही सर्वथा असंभव हो जाता।

वास्तविकता यह है कि क्रान्ति की परिस्थितियां परिपक्व हो चुकी थीं। उसमें एक दिन का भी विलम्ब करना आत्मघाती हो सकता था। परन्तु अजीमुल्ला, मुहम्मदशाह जफर, नाना फडनवीस, तांत्या टोपे और झांसी की रानी के सम्मिलित फैसले का 'उल्लंघन' करके ३१ मई के स्थान पर १० मई से ही क्रान्ति का बिगुल बजा देना संभव नहीं था। 'बाबा औघड़नाथ' ही ऐसे सर्वमान्य एवं परमादरणीय नेता थे जिनके संकेत पर १० मई को यह कार्य सम्भव हो सका। अन्यथा अन्यों की भांति मेरठ वाले भी ३१ मई की प्रतीक्षा करते करते पंगु एवं असमर्थ बना दिये जाते। कुछ लोग 'बाबा औघड़नाथ' का महत्व घटाने के लिए यह दावा भी करते हैं कि बाबा औघड़नाथ नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं। बाबा औघड़नाथ शिवजी का ही भोलेनाथ की तरह एक नाम है और काली पलटन में जो शिवमंदिर है उसी में एक अज्ञात बाबा लोगों को जल पिलाते समय अंग्रेजों के विरोध में प्रचार किया करते थे। ऐसा कहने वाले लोग भी इतिहास को झुठला देना चाहते हैं। तब उन्हे बाबा का नाम भी बताना चाहिए जो इतना व्यापक प्रभाव रखता था कि उसके संकेत मात्रा से सेनाओं ने उन नेताओं का फैसला पलट दिया जो १८५७ की क्रान्ति के विश्व प्रसिद्ध नेता माने जाते थे। परन्तु इतिहास को झुठलाने वाले ये लोग ऐसे किसी बाबा का नाम बता सकने में असमर्थ हैं। उनकी दृष्टि में वह कोई साधारण सा 'प्याऊ' चलाने वाला साधु था।

अतः महान् क्रान्तिकारी और प्रथम स्वाधीनता संग्राम का सूत्रापात करने वाले बाबा औघड़नाथ का सही सही परिचय पाठकों के सम्मुख रखना मेरठ के स्वतन्त्राता सेनानियों का प्रथम कर्त्तव्य है। तभी हम बाबा औघड़नाथ को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

यह बताना तो आवश्यक नहीं है कि अप्रैल, मई और जून महीनों में कितनी गरमी मेरठ में पड़ती है और कितनी तेज लूवें चलती हैं। बाबा औघड़नाथ शाम के ५ बजे से लेकर रात के ८ बजे ९ बजे तक बड़े-बड़े मटकों में पानी भरा करते थे जिनमें ९० बाल्टी पानी आता था। वह रात भर में शीतल हो जाता था। और उसे दिन भर बाबा प्यासे सैनिकों को पिलाते रहते थे। जब कोई सैनिक इस पुनीत कार्य में उनका हाथ बंटाना चाहता था, तो वे डांट कर उसे भगा देते थे और समझाते थे कि 'यह कार्य केवल बाबा का है और उसे ही करने दो।'

हजारों सैनिक प्रतिदिन यह देखते थे कि बाबा पूरे तीन चार घण्टे तक उनके लिए पानी भरते हैं और पसीनों में नहा जाते हैं। परन्तु यह सोचना मूर्खता है कि बाबा 'सेवा समिति के आदमी' थे। नहीं, इसके पीछे उनका राजनीतिक उद्देश्य छिपा था जिसे केवल वही अकेले जानते थे। अगले दिन जो भी सैनिक पानी पीने आता उससे वह एक ही प्रश्न पूछते- 'बच्चा ! किस धर्म को मानते हो?' सैनिक यदि उत्तर देता कि 'बाबा ! मैं तो मुसलमान हूँ।' 'बहुत अच्छा, बच्चा! सभी धर्म अच्छे हैं। पर फिरंगियों ने किसी को भी मुसलमान, हिन्दू या सिख नहीं रहने दिया है। जो कारतूस तुम लोग मुख में रखकर खोलते हो उसमें सूअर और गाय की चर्बी रहती है। फिरंगी ने सबको धर्मभ्रष्ट कर दिया है।'

यह बात बाबा बहुत धीरे से कहते थे। परन्तु बात सभी बैरकों और सैनिकों तक पहुँच गयी थी। मेरठ उस समय देश की सबसे बड़ी छावनियों में था। यहां से सैनिकों के तबादले भी होते रहते थे। यहां से जो भी जाता अंग्रेजी राज के खिलाफ नफरत के बीज लेकर जाता।

मंगल पाण्डे बाबा के सबसे प्रिय शिष्यों या भक्तों में थे। जब अपनी टुकड़ी के साथ (मेरठ से) बैरकपुर में तबादला किया गया तो वह रात के अंधेरे में बाबा का आशीर्वाद लेने आया। बाबा भावुक हो उठे। उसका तबादला उन्हें पसन्द नहीं आया। परन्तु विदाई का आशीर्वाद देने के अलावा और कर भी क्या सकते थे। उन्होंने गद्गद आवाज़ा में केवल इतना कहा- 'बच्चा! जहां भी रहो अपने धर्म और देश का ध्यान रखना।'

और संसार जानता है कि उनके चहेते मंगल पाण्डे ने बैरकपुर में जो कुछ भी किया उस पर 'बाबा' के संकेत पर दो दिन बाद ही मेरठ की पूरी छावनी में भयानक प्रतिक्रिया व्यक्त करके उस अमर बलिदानी के प्रति उचित श्रद्धांजलि अर्पित की गयी थी। अम्बाला छावनी ने भी इसमें सक्रिय योगदान करके अपना कर्त्तव्य निभाया था।

अब हम मूल समस्या की ओर लौटते हैं। १८५७ की क्रान्ति के समय 'बाबा औघड़नाथ' की आयु केवल ३३ वर्ष की थी। यह बाबा और कोई नहीं, स्वामी दयानन्द था जिनका बचपन का नाम मूलशंकर था। वह १८२४ में गुजरात के टंकारा (मौरवी) में जन्मे थे और यह संयोग ही है कि १८५७ की क्रान्ति में प्रमुख नेता घेघापन्त नाना साहब का जन्म भी १८२४ में ही हुआ था।

१८४६ से १८५४ तक वह भारत के विभिन्न अंचलों में घूमते रहे और इससे उन्हें विशेष लाभ यह हुआ कि पूरे भारत का एक मानचित्रा उनकी आंखों और मस्तिष्क में इतने सघन रूप से समा गया कि वे अपने ही शब्दों में 'काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक' एक अखण्ड भारत का चित्रा देखने लगे। उनके समकालीन सभी समाज सुधारक केवल अपने क्षेत्रों तक सीमित थे। परन्तु आश्चर्य है कि वह आधुनिक युग के पहले भारतीय चिन्तक थे। जिन्होंने भारत की भाषा में ही सोचा और सम्पूर्ण भारत उनकी आंखों में समाया रहा। इसका दूसरा कोई उदाहरण नहीं हैं। आम तौर पर 'होनी' अपने आप आकर किसी के सिर पर जा चढ़ती हैं। परन्तु कभी-कभी वह किसी-किसी को अपने पास ही बुला लेती है। दयानन्द के

साथ भी यही हुआ। भारत भ्रमण करते समय अपने १०८ वर्षीय स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती का नाम सुन रखा था जो अपने समय में सभी भारतीय विद्याओं में पारंगत समझे जाते थे। वह उनके पास विद्याध्ययन के उद्देश्य से हरिद्वार पहुँचे थे। परन्तु १८५४ तक अंग्रेजी राज के खिलाफ पूरे देश में अन्दर ही अन्दर आग सुलग रही थी। स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती एक समर्पित क्रान्किारी थे। उनके निर्देश में ५०० से अधिक संन्यासी पूरे देश और छावनियों में घूम-घूम कर अंग्रेजी राज के विरोध में असन्तोष को हवा दे रहे थे।

स्वामी सम्पूर्णानन्द ने अपने मन की एकाग्रता भंग होने से रोकने के लिए उनसे केवल इतना कहा कि 'वह बहुत वृद्ध हो गये हैं। पढ़ा सकने में असमर्थ हैं। फिर भी वे सलाह देंगे कि यदि पढ़ना ही है तो वह मथुरा जाकर स्वामी विरजानन्द के आश्रम में अध्ययन कर सकते हैं। वह स्वयं परम विद्वान् हैं और आश्रम में विद्वानों की अच्छी मण्डली एकत्रित कर रखी है।'

बात यद्यपि सच्ची थी ! परन्तु दयानन्द ने देखा कि १०८ वर्ष का संन्यासी सैंकड़ों साधुओं से प्रतिदिन बात करता है और उन्हें किसी न किसी गन्तव्य स्थान की ओर जाने की प्रेरणा देता है। फिर वह चाहे तो उसे पढ़ा क्यों नहीं सकता?

जो 'होनी' थी, वह तो सामने खड़ी थी। उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि ये साधु विद्याध्ययन की उपेक्षा करके अंग्रेजी राज की जड़ें खोदने में लगे हैं। एक दिन प्रसंगवश स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती ने उससे कह भी दिया कि 'अंग्रेजी राज ने हमारा सभी कुछ मिटा दिया है। हम अपने अतीत से घृणा करने लगे हैं, वर्तमान में शून्य हैं और भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। अब तो अंग्रेजी राज के हटाने में ही भारत का वर्तमान और भविष्य सुरक्षित रह सकता है।

स्वामी जी की बातें सुनकर स्वामी दयानन्द के शरीर में बिजली सी कौंध गयी। उन्हें यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ कि स्वामी विरजानन्द भी इसी टोली के प्रमुख सदस्य होंगे। अतः विद्याध्ययन के लिए मथुर जाना भी अर्थहीन है।

इसके अलावा, उसे स्वयं भी यह अनुभव हुआ कि देश हित में कार्य करने से अधिक श्रेष्ठ कार्य दूसरा नहीं हो सकता। क्यों न वह भी विद्या में महामहोपाध्याय बनने की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए अपना जीवन अर्पित कर दे।

वह जन्मजात प्रखर बुद्धि का था। फिर अनुकूल परिस्थितियों ने उसकी सहायता की। और १८५७ की दूसरी बड़ी घटना ने उसे उस मार्ग पर धकेल दिया जिस पर कदम रखने के बाद उसने जीवन भर वापस मुड़कर नहीं देखा। १८५४ में अपनी आयु के ३० वर्ष में उसने भारतीय स्वाधीनता के सपने देखने प्रारम्भ कर दिये।

यह भी संयोग ही है कि १८५५ में नाना साहब भारत में पेशवा बने और गद्दी पर बैठते ही उन्होंने अजीमुल्ला के साथ मिलकर स्वाधीनता आन्दोलन की तिथि निश्चित करने के लिए तीर्थ यात्रा के बहाने भारत भ्रमण प्रारम्भ कर दिया। तीर्थयात्रा के प्रसंग में जब नाना साहब हरिद्वार में स्वामी सम्पूर्णानन्द के दर्शनों के लिए आये तो स्वामी दयानन्द से भी उनकी मुलाकात हुई। उनके वैभवपूर्ण व्यक्तित्व से नाना साहब बहुत प्रभावित हुए।

मेरठ में स्वामी जी ने करीब १५० साधुओं की ऐसी टोलियां संगठित की जो गांव-गांव और शहरों के गली मोहल्लों में घूम घूमकर 'धर्म' का उपदेश करते थे एवं 'धर्मद्रोही' के कुकृत्यों के विरुद्ध जनता में आक्रोश उत्पन्न करते थे। १८५७ की क्रान्ति के उपरान्त जब उन्होंने राष्ट्रनिर्माण के लिए आर्यसमाज की स्थापना की थी, उसकी पूर्वकल्पना उन्होंने मेरठ में रहते समय १८५३ और ५४ में ही कर ली थी। मेरठ मण्डल के सभी जिलों तथा पूरे हरियाणा प्रदेश एवं पंजाब में आर्यसमाज की स्थापनायें आकस्मिक नहीं थीं। इन्हीं साधुओं के द्वारा उन्होंने प्रारम्भिक विचार जनता तक पहुँचाने प्रारम्भ कर दिये थे। बाद में १८५८-५६ में जब वे स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुर पहुँचे उस समय उनके विचारों में चमत्कारपूर्ण परिपक्वता और निखार देखने को मिलता है।

मेरठ में आर्य समाज की स्थापना यदि सबसे पहले चरण

में हुई तो यह आश्चर्यजनक नहीं है और जब उन्होंने उदयपुर में २० फरवरी १८८३ में अर्थात् अपने निधन से कुछ ही महीने पहले अपनी पुस्तकों तथा सम्पत्ति की देखभाल के लिए एक ट्रस्ट (परोपकारिणी सभा) की स्थापना की तो राजाओं और महाराजाओं के तुरन्त बाद चौथे स्थान पर लाला रामशरणदास उपप्रधान आर्य समाज, मेरठ का नाम ट्रस्टियों में रखा था। और यह तो और भी सुखद आश्चर्य है कि लन्दन में संस्कृत के प्राध्यापक एवं प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा का नाम भी ट्रस्टियों में रखना वह नहीं भूलें। पाठक शायद यह नहीं जानते कि श्यामजी कृष्ण वर्मा भारत के सबसे पहले मार्क्सवादी हैं और वे स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी विचारों के भी सबसे पहले पक्षधरों में हैं।

उन्हीं के मौखिक आदेश पर कि यदि इनमे से किसी की मृत्यु हो जाती है तो सभासद किसे मनोनीत करें स्पष्ट कर दिया गया था। उस सूची में प्रसिद्ध समाज सुधारक श्री हर विलास शारदा थे जिन्होंने बालविवाह प्रथा के विरोध में सबसे पहले आवाज उठायी थी और लाला लाजपत राय थे जिन्हें अत्यधिक आदर से देशवासी पंजाब केसरी कहकर पुकारते थे।

मेरठ में सैनिक क्रान्ति ही वास्तव में क्रान्ति थी। अन्य स्थानों पर भी जहां कहीं मेरठ की सैनिक टुकड़ियां क्रान्ति का आह्वान करने पहुँच गयीं, वहीं क्रान्ति सफल रही। इसके अलावा मेरठ मण्डल के पांचों जिलों में जिस प्रकार का जनसहयोग सैनिक क्रान्ति को मिला, अन्य केन्द्रों में क्यों नहीं मिला?

दूसरी बात यह है कि अन्य केन्द्रों में सैनिक प्रायः वेतन लेकर क्रान्ति के पक्ष में युद्धरत थे। नाना साहब, अजीमुल्ला या होल्कर अथवा झांसी की रानी अपने सैनिकों को थोड़ा बहुत वेतन अवश्य देती थी। इस वेतन की मात्रा पर कभी-कभी भारतीय सैनिक इधर से उधर भटक कर शत्रु पक्ष की ओर भी जा मिलते थे। परन्तु यह सुखद आश्चर्य ही माना जायेगा कि मेरठ के पूरे ६ हजार सैनिक न केवल वेतन न लेने वाले क्रान्ति योद्धा थे बल्कि जब बहादुरशाह जफर ने उनसे कहा कि 'मैं तुम्हारा नेतृत्व करना तो स्वीकार कर सकता हूँ, परन्तु तुम्हें वेतन देने के लिए मेरे कोषागार में पैसा ही नहीं है' उससे यह समझा जा सकता है कि दिल्ली का सम्राट् ऐसे सैनिकों की कल्पना करने तक में असमर्थ था जो वेतन लिये बिना देश के लिए मर मिटने को तैयार हों। परन्तु मेरठ के सैनिकों ने इसका बड़ा सटीक उत्तर दिया 'हम आपसे केवल नेतृत्व करने की मांग करते हैं, वेतन की नहीं। आपका कोषागार जो खाली पड़ा हुआ है उसे हम केवल १५ दिनों की छोटी-सी अवधि में अंग्रेजी कोषागार छीन-छीन कर भर देंगे और आपको सही अर्थों में दिल्ली का सम्राट् बना देंगे।'

प्रश्न यह उठता है कि चिन्तन में यह महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन मेरठ में ही कैसे संभव हुआ? यह इसलिए संभाव हुआ कि उनके पास क्रान्तिकारी विचारधारा थी। विचारधारा के अभाव में किया गया कोई कार्य कभी सफल नहीं होता और वह केवल गर्भपात के समान निरर्थक एवं पीड़ा जनक होता है।

क्रान्ति की विचाराधारा पर विचार करते समय हम पाठकों का ध्यान स्वामी दयानन्द अर्थात् बाबा औघड़नाथ के निम्न वाक्यों की ओर आकृष्ट करना चाहते है जो 'सत्यार्थप्रकाश' का वास्तविक साररूप है। वह कहते हैं-

जो मनुष्य परोपकार और देशोपकार करने में असमर्थ होता है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। और कोई व्यक्ति तब तक धार्मिक नहीं हो सकता जब तक देश सेवा करना अपना सर्वोच कर्तव्य न मानता हो।'

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'बाबा ओघड़नाथ' ने काफी लम्बे समय तक जो विचारधारा मेरठ के सैनिकों तथा मण्डल की सर्वसाधारण जनता को दी थी उसमें देश सेवा के मुकाबिले वेतन और व्यक्तिगत लाभ का प्रश्न महत्वहीन था।

थोड़े से उद्धरण सामने रख कर हम यह दिखाना चाहते हैं कि यह महान् संन्यासी जितना धार्मिक सांस्कृतिक क्रान्तिकारी था उससे कम राजनीतिक क्रान्तिकारी नहीं था। नीचे लिखे

वाक्यों के वाक्यांशों पर ध्यान देने की कृपा करें।

'विदेशी राज चाहे जितना अच्छा हो, परन्तु स्वदेशी राज सर्वोपरि एवं उत्तम होता है।

'विदेशियों का राज्य चाहे माता पिता के सामन कृपा-न्याय और दया की वर्षा करता हो, परन्तु वह स्वदेशी राज्य की भांति पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।'

'सृष्टि से लेकर महाभारत तक इस देश में चक्रवर्ती सम्राट् रहते थे। परन्तु आज उन्हीं की सन्तानें विदेशियों से पदाक्रान्त हैं।'

'देश के अधःपतन का मूल कारण देशवासियों की भूल है। यही कारण है कि अल्पसंख्यक (विदेशी) उन्हें अपने पांवों के नीचे रौंदते रहते हैं।"

'फूट और स्वार्थ के कारण ही कौरव, पाण्डव तथा यदुवंशियों का सर्वनाश हुआ और अभी तक भी यह रोग हमारा पिण्ड नहीं छोड़ रहा है।'

'जब भाई ही भाई को मारने लगता है तो सर्वनाश होने में क्या कमी रह जाती है।'

'अंग्रेजों और उनके सभ्यता के प्रभाव में रहने वाले भारतीय अपने पूर्वजों को तुच्छ एवं मूर्ख समझते हैं। वे यह मानने लगते हैं कि मानव सभ्यता का अरुणोदय अंग्रेजों के पदार्पण के बाद ही हुआ है।'

'कार्यालयों में अपने देश का बना जूता तो जाने देते हैं, परन्तु स्वदेशी जूते के प्रवेश पर रोक लगायी जाती है।'

'जयपुर में देखते ही देखते कितने गिरिजाघर बन गये है। वहां पादरी धड़ल्ले से वेदों, राम, कृष्ण और गौतमबुद्ध की निन्दा करते हैं तथा भारतीय कान लगा कर सुनते हैं।"

'एक युग था जब इस देश के व्यापारी और उद्योगपति भारतीय माल का पूरे संसार में व्यापार करते थे। इससे यह देश 'सोने की चिड़िया' कहलाता था। परन्तु अंग्रेजों ने हमारा व्यापार और उद्योग धन्धे सभी कुछ नष्ट कर दिये हैं। व्यापार और उद्योगों के बिना यह देश उन्नति कैसे कर सकेगा।'

'अपने पूर्वजों, ऋषि मुनियों का मजाक बनाना और ईसाइयों को धर्मावतार मानना इस देश के पतन का लक्षण है।'

'अन्याय करने वाले, अभिमानियों, अत्याचारियों तथा अविद्वानों का राज्य अधिक समय तक नहीं चला करता।'

'जैसे मांसाहारी पुरुष किसी हृष्टपुष्ट जानवर को मार कर खा जाता है, वैसे ही निरंकुश राजा प्रजाजनों का भक्षण कर जाता है। राज्य पर तो प्रजा का ही आधिपत्य रहना चाहिए।'

'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए प्रत्युत सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।'

'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी कार्यों में परतन्त्रा रहना चाहिए और अपने हितकारी कार्य में स्वतन्त्रा रहे।'

'भिन्न भिन्न भाषा पृथक् पृथक् शिक्षा और अलग-अलग रीतिरिवाज खत्म होना दुष्कर है। परन्तु इसके बिना भारत की उन्नति कर पाना भी असंभव है।'

'बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार ने देश को निःशस्त्रा और निर्बल बना दिया है। इससे क्षत्रिय धर्म की अपार हानि हुई है।'

भारत सभी भाषाओं और विद्याओं तथा धर्मों का दूगम स्थान है। यहीं से सब विचार ईरान, मिस्त्रा और यूनान होकर योरोप तथा अमरीका तक पहुँचे हैं।'

ये थोड़े से उदाहरण हैं जिससे स्वामी जी की राजनीतिक चेतना का स्पष्ट आभास मिलता है। इसमें कहीं भी उनका राजनीतिक स्वार्थ या महत्वांकाक्षा दृष्टिगोचर नहीं होती। वह केवल विशुद्ध भारतीय चिन्तक और देशभक्त के रूप में राष्ट्रीय स्वाधीनता के सम्वंध में विचार करते हैं। हम देखते हैं कि मेरठ मण्डल के सैनिकों तथा किसानों पर उनके निःस्वार्थ विचारों की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। तभी तो मेरठ के विद्रोही सैनिक बहादुरशाह जफर से कहते हैं कि हम आपसे वेतन नहीं मांगते केवल यह चाहते हैं कि आप हमारा नेतृत्व करें। वेतन के लिए अपार धनराशियां तो वे स्वयं ही उनके कदमों पर न्योच्छावर कर देंगे।'

उनसे पहले किसी ने भी इतनी सफाई के साथ सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार नहीं किये। हो सकता है कि बाबा औघड़नाथ के छद्म नाम पर स्वामी दयानन्द की गतिविधियों का उल्लेख करने पर कुछ पाठक इस लेखक को 'सनकी' होने की संज्ञा दे दें। परन्तु सनकी कहलाने का भय कम पाप है

और एक सच्ची बात को उजागर न करना महापाप है। लेखक को ऐसे शंकालु व्यक्तियों से यह पूछने का न्यायोचित अधिकार तो है ही कि जिस व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन खुली पुस्तक के पृष्ठों के समान है उसके १८५६-५७ और ५८ के पृष्ठ उसमें से कहां और कैसे फट गये हैं। उनके जीवन इतिहास में इन तीन वर्षों का कोई विवरण क्यों नहीं मिलता। यह प्रश्न तो बड़ा ही स्वाभाविक है कि जीवन भर सक्रिय रहने वाला यह संन्यासी ३ वर्ष कहां गायब रहा और १० मई १८५७ के उपरांत मेरठ में भी उसकी उपस्थिति का कहीं बोध क्यों नहीं होता?

प्रथम स्वाधीनता संग्राम की विफलता के बाद वह १८५६-६० में विद्याध्ययन के बहाने स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा पहुँचते हैं। परन्तु पढ़ना तो केवल बहाना था। वह जानते थे कि स्वामी विरजानन्द का देश के सभी स्वतन्त्राता सेनानियों से व्यापक सम्पर्क है और राजस्थान के राजपरिवारों के साथ भी उनका घनिष्ठ सम्पर्क है।

परन्तु स्वामी विरजानन्द ने उन्हें एक नयी दिशा दी जिसकी देश को परम आवश्यकता थी। उन्होंने सुझाव दिया कि स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने से पहले उन्हें देशवासियों को इस योग्य बनाना होगा कि वे अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों के घेरे से बाहर निकलें। नवजागरण का यह अभियान यद्यपि कटुता पूर्ण माना जाता है और समाज में तनाव भी उत्पन्न हुआ था, परन्तु लकवा मारे शरीर में तनाव का उत्पन्न होना तो हजार गुना बेहतर है। उन्होंने हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों और सभी भारतीयों को परम्परावाद से हटाकर नयी लीक पर चलने के लिए विवश कर दिया।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि बीसवीं सदी में और १६ वीं सदी के अन्त में कांग्रेस ने जितने भी आन्दोलन चलाये और नारे दिये उनके लिए स्वामी जी ने पहले ही आधार तैयार कर दिया था। जिन तीन वर्षों की घटनायें उनकी जीवनी में अनुपलब्ध हैं और रहस्य उत्पन्न करती हैं उनके सम्बन्ध में स्वामी जी ने एक स्थान पर प्रसंगवश बड़ा रोचक विवरण दिया है। उन्होंने लिखा है कि 'उन दिनों मैं नर्मदा के तटों पर और बीहड़ों में भ्रमण करता रहा।'

कोई पूछे तो सही कि स्वामी दयानन्द या बाबा औघड़नाथ नर्मदा के तटों और बीहड़ों में क्यों विचरण कर रहे थे? इसका स्पष्ट उत्तर हमारे पास है और वही उत्तर सटीक भी है। सेनापति तांत्या टोपे के इतिहास में कि प्रसिद्ध मराठा सेनापति बार-बार नर्मदा पार करके दक्षिण की ओर जाना चाहता था। उसकी योजना दक्षिण में अंग्रेजों से लोहा लेने की थी और अंग्रेज उसे नर्मदा पार कर देना नहीं चाहते थे। फिर भी वह वास्तविकता है, कि वह बार-बार नर्मदा पार करना चाहता था और शत्रु उसे बार-बार नर्मदा पार करने से रोकता रहा।

सेनापति तांत्या टोपे की इस घटना को यदि स्वामी जी के नर्मदा तटों पर भ्रमण करने से जोड़कर देखा जाय तो पाठक इसका महत्व समझ सकते हैं कि वह स्वयं भी दक्षिण की ओर क्यों जाना चाहते थे। वास्तव में अजीमुल्ला, नाना साहब, तांत्या टोपे और स्वयं स्वामी जी नर्मदा पार करने के लिए लालायित थे और दक्षिण में मोर्चाबन्दी करने के लिए उत्सुक थे।

दूसरे स्वतंत्राता सेनानी या तो मारे गये थे और या देश से निष्कासित हो गये थे। परन्तु स्वामी जी ने 'वैदिक' धर्म के प्रचारक के रूप में राष्ट्रीय जागरण की ऐसी ज्योति जलायी थी कि आगे चलकर कांग्रेस को लाखों की संख्या में ऐसे प्रशिक्षित एवं समर्पित कार्यकर्ता मिले कि स्वाधीनता आन्दोलन का स्तर अनवरत ऊँचा ही उठता गया।

यहां तक कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में बीसवीं सदी में जो चार 'स्व' अक्षरों वाले वाक्यांश अपनाये गये जैसे-'स्वराज्य', 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेशी' इन चारों का प्रवर्तन सबसे पहले सत्यार्थप्रकाश में ही किया गया है और बाद में इसे पूरे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन ने अपना लिया था। और यही चार नारे जन जागरण के मूल आधार वने।

स्वामी जी की भूल

१८६० के बाद स्वामी जी ने

अधिकांश समय भारतीय नरेशों और विशेष रूप से राजस्थान के राजपूत घरानों में इस आशा के साथ बिताया कि उनको चरित्रावान देशभक्त बनाया जा सकता है तथा १८५७ की क्रान्ति के विफल होने के बाद भी यदि वे आपस में जुड़ जायें तो देश का स्वाधीनता आन्दोलन सफल हो सकता है।

परन्तु यह उनकी भूल थी। देशी नरेशों ने १८५७ में अपनी क्रान्तिकारिता का 'अन्तिम' परिचय देकर अपना भाग्य एवं अस्तित्व अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया था। वास्तव में भारतीय सामन्तवाद ने आत्मसर्मपण कर दिया था। उससे किसी क्रान्ति की आशा करना निरर्थक था।

उनकी यह भूल ही अन्त में १८८३ में जोधपुर के एक राजपरिवार में उनकी मृत्यु का कारण बनी। १८५७ के बाद में सम्राटों और नरेशों ने अपने आपको राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विरोध में खड़ा कर लिया था। हां, व्यक्तिगत रूप में कोई राजा और सामन्त क्रान्ति का समर्थक बना रह सकता था। यह उसकी व्यक्तिगत विशेषता थी। परन्तु वर्गरूप में उसने आत्मसमर्पण कर दिया था।

परन्तु बाबा औघड़नाथ के रूप में उन्होंने मेरठ में क्रान्ति का बीजारोपण करके और स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में सत्यार्थप्रकाश की रचना करके जिस राजनीतिक इतिहास की आधारशिला रखी है, उसके लिए भारत सदैव उनका आभारी रहेगा।'

श्रीमद् दयानन्द वेद विद्यालय

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के राष्ट्रीय नेता स्वामी आर्यवेश जी ने हैदराबाद स्थित मलकपेट श्रीमद् दयानन्द आर्ष गुरुकुल का पिछले दिनों देखने गए। गुरुकुल के विद्यार्थियों के साथ में स्वामी आर्यवेश जी तथा उनके साथ आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री विट्ठल राव आर्य जी व उपप्रधान श्री हरिकिशन वेदालंकार जी, श्री वेदमित्र जी व अन्य आचार्यगण।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि मेरठ में प्रथम स्वाधीनता संग्राम संयोजक बाबा औघड़नाथ कोई साधारण साधु नहीं थे और स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से उद्धरण देकर हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि औघड़नाथ छद्म नाम का साधु वास्तव में स्वामी दयानन्द थे। इसके विपरीत असहमति प्रकट करने वालों से हमारा केवल इतना अनुरोध है कि वे यह बताने का कष्ट भी करें कि फिर बाबा औघड़नाथ कौन थे और इनका इतना व्यापक प्रभाव कैसे हो गया कि उनके कहने मात्रा से या मेरठ की स्त्रियों द्वारा चूड़ियां पहनने के ताने सुनने मात्रा से मेरठ की सेनाओं ने क्रान्ति की तारीख बदल दी। वे कृपया यह भी बतायें कि १० मई के बाद बाबा औघड़नाथ का नाम कहीं सुनाई क्यों नहीं पड़ता और उनका क्या अन्त हुआ?

बाबा औघड़नाथ और कोई नहीं स्वामी दयानन्द ही थे। सम्पूर्णानन्द सरस्वती, स्वामी बिरजानन्द और स्वामी दयानन्द ये साधारण संन्यासी नहीं थे। ये सभी १८५७ के स्वाधीनता आंदोलन के वीर सेनानी थे और श्री अजीमुल्ला इनके सर्वाधिक संगठन शक्ति वाले परम योद्धा थे। हम इसी रूप में उन्हें नमन करते हैं और अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। समय की स्थितियाँ और ऐतिहासिक घटनाएँ इन्हीं तथ्यों की ओर संकेत करती हैं।

'మాఫీనామా'కు ఒప్పకోని వ్యక్తి

నారాయణ రావ్ పవార్

ఈయన జగదీశ్ ఆర్య, గండయ్య ఆర్య అనే స్నేహితులతో కలిసి 1947, డిసెంబర్ 4న కింగ్ కోఠి ప్యాలెస్ వద్ద 7వ నిజాంపై బాంబు వేశారు. ఈ దాడిలో 7వ నిజాం తప్పించుకోగా దారినపోయే కొమురయ్య, ఫెర్నాండెజ్ అనేవారికి తీవ్ర గాయాలయ్యాయి. 1947లోనే సెషన్స్ కోర్టు నారాయణ రావుకు మరణ శిక్ష, జగదీశ్ ఆర్యకు జీవిత కారాగార శిక్ష విధించింది.

కానీ 1948, సెప్టెంబర్ 17న చేపట్టిన పోలీస్ చర్య తరువాత నారాయణరావు పవార్ మరణ శిక్షను జీవిత కారాగార శిక్షగా మార్పు చేశారు. స్వామి రామానంద తీర్థ మధ్యవర్తిత్వంతో 'మాఫీనామా' అంటే తప్పయిందని ఒప్పుకొంటే విడిచిపెట్టడానికి గవర్నర్ జనరల్ ఒప్పుకొన్నాడు. అందుకు నారాయణరావు ససేమిరా ఒప్పుకోలేదు. చివరకు 21 -నెలల జైలుశిక్ష అనంతరం 1948, ఆగస్టు 10న విడుదలయ్యారు. 2010, డిసెంబర్ 12న హైదరాబాద్‌లో మరణించారు.

నారాయణపేట్ ఆర్య సమాజంలో శ్రావణి సందర్భములో యజ్ఞమును నిర్వహించుచున్న ఆచార్య విశ్వశ్రవః గారు మిగితా చిత్రాలలో యజ్ఞమును నిర్వహించుచున్న సభ్యులు. ఆర్య సమాజ అధికారులు శ్రీ సరోద విజయ్ కుమార్ గారు అధ్యక్షులు, ఆర్య సమాజ్ మంత్రి సుశ్రీ నాగమ్మ బహెన్ జి గారు, ఉపాధ్యక్షులు సుఖదేవ్ ఆర్య గారు, వెంకటరామారెడ్డి గారు, సభ అధికారి శ్రీ బొన్నల బసిరెడ్డి గారు, శ్రీ ఓంప్రకాష్ గారు, ప్రధానాచార్యులు శ్రీ కె. నారాయణ గారు, శ్రీ రామ్‌చరణ్ గారు మరియు ఇతర మహానుభావులను చూడవచ్చును.

Date of Publication 2nd and 17th of every Month, Date of Posting 3rd and 18th of every Month
आर्य जीवन 03-09-2022 Registered-Reg. No. HD/783/2021-23 RNI No. 52990/93

ఆర్య జీవన్

హింది-తెలుగు ద్విభాషా పక్ష పత్రిక

Editor : Sri Vithal Rao Arya, M.Sc., L.L.B., Sahityaratna.
Arya Pratinidhi Sabha A.P.-Telangana, Sultan Bazar, Hyderabad-500095.
Phone : 040-24753827, 24756983, Narendra Bhavan : 040 24760030
Annual Subscription Rs. 250/- సంపాదకులు : విఠల్ రావు ఆర్య, ప్రధాన సభ

To,

श्री प्रधान, मन्त्री
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि
१५, हनुमान रोड,
नई दिल्ली-१

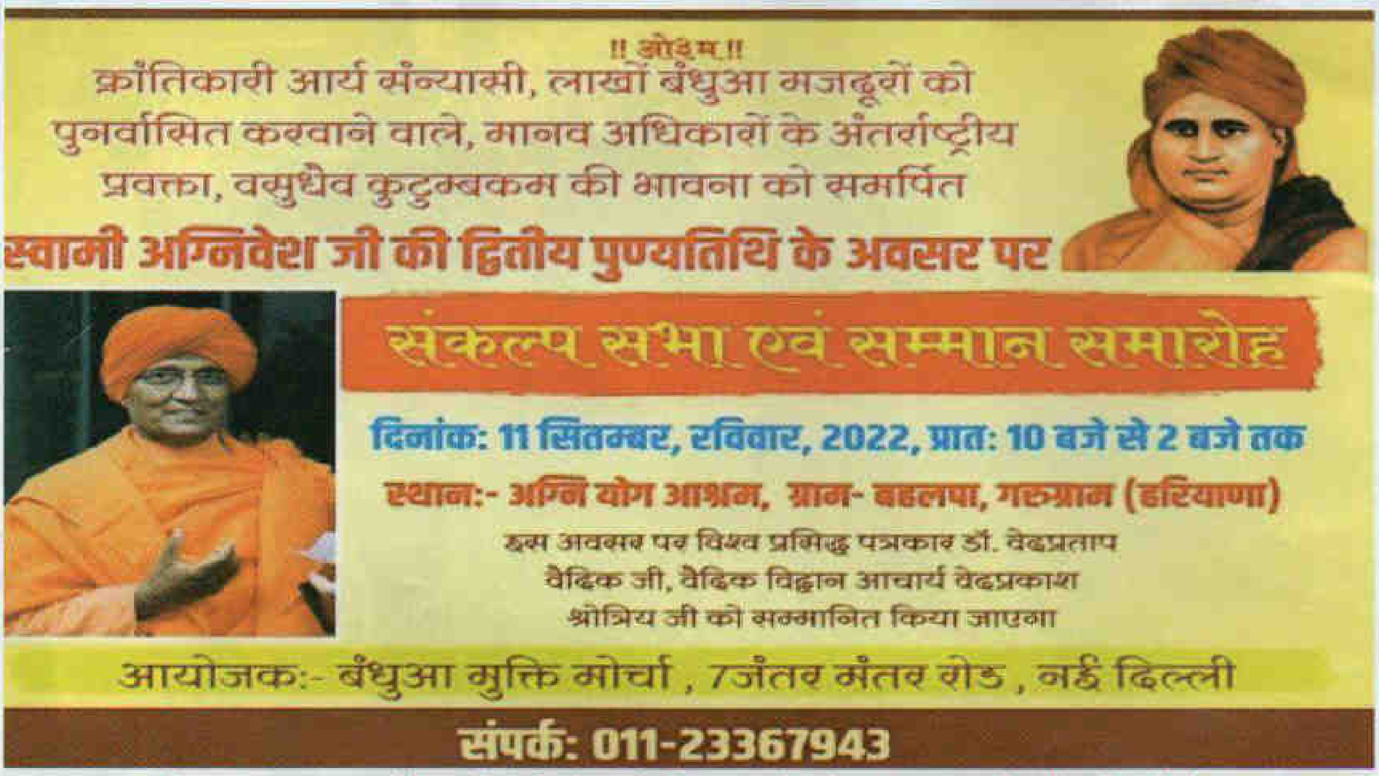

!! ओ३म !!

क्राँतिकारी आर्य संन्यासी, लाखों बंधुआ मजदूरों को पुनर्वासित करवाने वाले, मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय प्रवक्ता, वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को समर्पित

स्वामी अग्निवेश जी की द्वितीय पुण्यतिथि के अवसर पर

संकल्प सभा एवं सम्मान समारोह

दिनांक: 11 सितम्बर, रविवार, 2022, प्रात: 10 बजे से 2 बजे तक

स्थान:- अग्नि योग आश्रम, ग्राम- बहलपा, गरुग्राम (हरियाणा)

इस अवसर पर विश्व प्रसिद्ध पत्रकार डॉ. वेदप्रताप वैदिक जी, वैदिक विद्वान आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय जी को सम्मानित किया जाएगा

आयोजक:- बंधुआ मुक्ति मोर्चा, 7जंतर मंतर रोड, नई दिल्ली

संपर्क: 011-23367943

साम्प्रदायिक सद्‌भाव यात्रा में स्वामी अग्निवेश जी के साथ श्रीमती शबानाआज़मी और श्रीमती मेधा पाटकर

THE VIEWS & THE NEWS PUBLISHED IN THIS ISSUE MAY NOT NECESSARILY BE AGREEABLE TO THE EDITOR.

Editor : Sri Vithal Rao Arya E-mail : acharyavithal@gmail.com, Mobile : 09849560691.

సంపాదకులు : శ్రీ విఠల్ రావు ఆర్య, ప్రధాన సభ, ఆర్య ప్రతినిధి సభ ఆ.ప్ర.-తెలంగాణ, సుల్తాన్ బజార్, హైదరాబాద్-95. Ph : 040-24753827, E-mail : acharyavithal@gmail.com

संपादक : श्री विट्ठल राव आर्य, प्रधान सभा ने सभा की ओर से आकृति प्रिन्टर्स, चिक्कड़पल्ली में मुद्रित करवा कर प्रकाशित किया।

प्रकाशक : आर्य प्रतिनिधि सभा, आं.प्र.- तेलंगाना, सुल्तान बाज़ार, हैदराबाद-500 095. Narendra Bhavan Ph : 040 24760030